गद्य गरिमा

गद्य गरिमा

[माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश द्वारा इण्टरमीडिएट कक्षाओं के लिए (कृषि वर्ग को छोड़कर) हिन्दी गद्य की पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित]

राज्य सरकार के प्राधिकार से प्रकाशित

प्राक्कथन

हाई स्कूल एव इण्टरमीडिएट दोनों ही स्तरो के लिए उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तको के प्रणयन एव प्रकाशन के लिए उत्तर प्रदेश शासन ने पाठ्य-पुस्तको के राष्ट्रीयकरण की एक क्रमिक योजना तैयार की है। इस योजना के अन्तर्गत प्रथम चरण मे जुलाई १९७५ के शिक्षा-सत्र से अनिवार्य अध्ययन हेतु हिन्दी की निम्नलिखित आठ पुस्तकें प्रकाशित की जा रही हैं :—

हाई स्कूल		इण्टर	
१.	गद्य सकलन	५.	गद्य गरिमा
२	काव्य संकलन	६.	काव्याञ्जलि
३	रग भारती	७.	कथा भारती
४.	सस्कृत परिचायिका	८.	सस्कृत दिग्दर्शिका

ये पुस्तकें हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के परामर्श एव प्रदेश के अनुभवी अध्यापकों, अध्यापक-प्रशिक्षको, विश्वविद्यालय-प्राध्यापकों एव विषय-विशेषज्ञो के सपादन के सम्मिलित प्रयास से तैयार की गयी हैं। राष्ट्रीय स्तर पर पाठ्य-पुस्तक निर्माण से सम्बद्ध राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान एवं प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली के कुछ अनुभवी अधिकारियो ने भी इन पुस्तको के सम्पादन मे अपना सहयोग हमे प्रदान किया है।

इन पुस्तकों के माध्यम से हमारा लक्ष्य राष्ट्र की सांस्कृतिक एव साहित्यिक उपलब्धियो से छात्रो को परिचित कराना तथा उनमे राष्ट्रीय आदर्शों एवं लक्ष्यो के प्रति जागरूकता पैदा करना है। समाजवाद एव धर्म-निरपेक्षता, राष्ट्रीय एकता एव भावनात्मक सामजस्य, दायित्व-बोध एव अनुशासन, विश्व-बन्धुत्व एव मानवतावाद जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा हमारे राष्ट्र कीं घोपित नीति हैं। इन पुस्तकों की अध्ययन-सामग्री भाषा-बोध के साथ-साथ इन जीवन-मूल्यो के प्रति निष्ठा उत्पन्न करने मे सहायक सिद्ध होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

विगत दो दशकों मे हमारे देश और समाज में तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे बहुत-कुछ घटित हुआ है और उसने जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रो को प्रभावित किया है। इस बीच सामाजिक मूल्य तेजी से बदले हैं जिसके फल-स्वरूप भाषा और साहित्य मे भी तेजी से बदलाव हुआ है। अनेक अभिनव एव विविध प्रयोगो से हिन्दी साहित्य बड़ी तीव्र गति से समृद्ध हुआ है। इन पाठ्य-पुस्तकों मे इस बदलाव और विविधता को परिलक्षित करने का प्रयत्न किया गया

है जिससे अपने युग और उसके परिवेश के इस बदलाव की जानकारी भी छात्रो को हो सके। हमारा विश्वास है कि युगबोध से सम्बद्ध होने पर ही हमारे विद्यार्थी भाषा और साहित्य को जीवित शक्ति के रूप मे ग्रहण कर सकेगे।

संक्षेप में, इन पुस्तकों के प्रणयन में हमारा प्रयास यह रहा है कि :—

(१) छात्रों की ग्राहिका शक्ति में आ सकने योग्य साहित्य के उत्कृष्ट अंश उनके अध्ययन का विषय बन सकें।

(२) पाठ्य-सामग्री रोचक, वैविध्यपूर्ण, प्रेरक, बोधगम्य एव सुरुचिपूर्ण हो।

(३) पुस्तकें एक ओर कक्षा ८ से क्रमागत हों और दूसरी ओर विश्वविद्यालय स्तर से भी जुड़ जाँय।

(४) हाई स्कूल अथवा इण्टर के पश्चात् शिक्षा से विरत हो जाने वाले छात्रों को भी अपने आप में पूर्ण आवश्यक पाठ्य-वस्तु मिल जाय।

(५) भूमिका, टिप्पणियों, प्रश्न-अभ्यासों के द्वारा पाठ्य-सामग्री का ऐसा आवश्यक विश्लेषण हो जाय कि छात्र सस्ती टीकाओं की ओर न झुके।

हम यह नहीं कह सकते कि इस प्रयास मे हमे कहाँ तक सफलता मिली है तथापि प्रयत्न यही रहा है कि सीमित अवधि मे उपलब्ध साधनों का अधिकाधिक उपयोग करते हुए पुस्तक को उपयोगी एवं स्तरानुकूल बनाया जा सके। सामग्री-चयन, भूमिका, प्रश्न-अभ्यास, आदि में सतत परिमार्जन अपेक्षित है। एतदर्थं प्राप्त होने वाले सुझावों के लिए मैं अनुगृहीत होऊँगा।

जिन कृती लेखकों की रचनाएँ इन सकलनों मे ली गयी है, उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। परामर्शदाताओं और सम्पादकों का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ जिन्होने सीमित अवधि मे अत्यन्त मनोयोग से पाण्डुलिपि की रचना की। परिषद् सचिव श्री रघुनन्दन सिह तथा उनके सहकर्मियो, विशेषरूप से पाठ्य-पुस्तक योजना से सम्बद्ध अतिरिक्त सचिव श्री गोविन्द वल्लभ पंत तथा उनके सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। श्री पत और उनकी पाठ्य-पुस्तक इकाई के अथक परिश्रम और कर्त्तव्य-निष्ठा के बिना यह गुरुतर कार्य इतने अल्प समय में इस सुचारुता से पूरा नहीं हो सकता था। हिन्दी समिति के सदस्यों के प्रति भी मैं आभार प्रकट करना चाहूँगा जिन्होने इन पुस्तको के प्रणयन मे अपना योगदान दिया है।

डॉ० श्याम नारायण मेहरोत्रा
शिक्षा निदेशक एव सभापति
माध्यमिक शिक्षा परिषद्
उत्तर प्रदेश

विषय सूची

यह संकलन

प्रस्तुत गद्य-संकलन इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्रों के मानसिक स्तर को ध्यान मे रखकर पाठ्य-पुस्तक के रूप मे अध्ययन करने के लिए तैयार किया गया है। संकलन तैयार करते समय संपादकों के सम्मुख पहला उद्देश्य यह रहा है कि इण्टरमीडिएट कक्षा के छात्र हिन्दी-गद्य के विगत सौ वर्षो के विकास से पूर्णतः परिचित हो जाँय। भारतेन्दु युग में हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्पष्ट और स्थिर होने लगा था। द्विवेदी-युग मे वह व्याकरण के नियमों से अनुशासित हुआ। उसका परिष्कार और परिमार्जन हुआ। छायावाद युग मे वह अलंकृत हुआ। उसमे लाक्षणिकता का समावेश हुआ। उसकी अभिव्यंजना शक्ति बढ़ी और वह सूक्ष्म, कोमल भावनाओं तथा सुकुमार एव रगीन कल्पना-चित्रो को व्यक्त करने मे समर्थ हुआ। प्रगतिवादी युग मे ठोस सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने की प्रतिवद्धता के कारण उसमे कुछ परुपता, रुक्षता और खरापन आया और वह जीवन के वाह्य विस्तार को अभिव्यक्ति देने मे समर्थ हुआ। इस युग की समाप्ति के साथ ही देश स्वतंत्र हुआ। हमारी आकांक्षाएँ वढी। हम देश-विदेश की साहित्यिक गतिविधियो से परिचित होने, आधुनिक जीवन के द्वद्व, तनाव, सकुलता, और वुद्धिवादिता को ग्रहण करने और जीवन की दौड़ मे आगे वढने के लिए व्यग्र हो उठे। इस पूरे परिवेश को अभिव्यक्ति देने के प्रयत्न मे हिन्दी गद्य-साहित्य मे अनेक विधाओ का विकास हुआ। उसकी शब्द-सम्पदा में वृद्धि हुई। वह आधुनिक जीवन के वाह्य विस्तार को समेटने और आन्तरिक रहस्यों को व्यजित करने मे समर्थ हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के गद्य से आगे चलकर मोहन राकेश के गद्य तक की यात्रा के क्रम मे इण्टर कक्षा के छात्र उपर्युक्त विकास-रेखायो को स्वय लक्षित कर सकेगे।

प्रस्तुत सकलन का दूसरा उद्देश्य इण्टर कक्षा के छात्रो को हिन्दी-गद्य की सभी प्रमुख विधाओ से परिचित कराना है। इसलिए प्रस्तुत सकलन मे उन विधाओ को छोड़कर जिनका अध्ययन छात्रो को स्वतत्र रूप से कराया जायगा शेप सभी

को प्रतिनिधित्व दिया गया है। संस्मरण, शब्दचित्र, गद्यगीत, रिपोर्ताज, यात्रा-वृत्त, आदि निबधों की परंपरा मे विकसित होने वाली गद्य की अपेक्षाकृत नयी विधाएँ है। प्रस्तुत संकलन में महादेवी वर्मा का 'प्रणाम' संस्मरण का, रामवृक्ष बेनीपुरी का 'गेहूँ बनाम गुलाब' शब्दचित्र का, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' का 'रावर्ट नर्सिग होम मे' रिपोर्ताज का, रायकृष्णदास का 'आनन्द की खोज, पागल पथिक' गद्यगीत का तथा मोहन राकेश का 'आखिरी चट्टान' यात्रावृत्त का प्रतिनिधित्व करने वाली रचनाएँ समाविष्ट है।

निबंधों के सभी प्रकार के रूपों और शैलियों से छात्रों को परिचित कराना इस संकलन का तीसरा उद्देश्य है। इसलिए निबंधों का चयन करते समय उनके सभी रूपो को समाविष्ट करने की चेष्टा की गयी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' निबध विचारात्मक होने के साथ ही तत्कालीन सुधारवादी चेतना को व्यक्त करने वाला है। द्विवेदीजी का 'महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन' वर्णनात्मक निबंध है। वह इस तथ्य का भी साक्षी है कि द्विवेदी-युगीन लेखक हिन्दी के अभावों को दूर करने के लिए संस्कृत से सामग्री लेने मे संकोच नहीं करता था। अध्यापक पूर्णसिंह ने हिन्दी-गद्य को लाक्षणिक बनाकर उसे एक नया आयाम दिया था। उनकी शैली में भावावेग और ओजस्विता है। उनका 'आचरण की सभ्यता' निवध भावावेगपूर्ण प्रवाहमयी शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अपने मनोवैज्ञानिक निबंधों के लिए प्रसिद्ध है। उन्होंने प्राय सभी प्रमुख मनोविकारो का विवेचन किया है। उनका 'करुणा' शीर्षक निबंध उनकी विचारात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने प्रेरणाप्रद, उदात्त मानवीय सास्कृतिक चेतना से युक्त आत्मव्यंजक निवधो के लिए प्रख्यात है। उनका 'कुटज' निबंध उनके व्यक्तित्व और शैली का पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। महापडित राहुल सांकृत्यायन हमारे देश के सबसे बड़े घुमक्कड़ थे। 'अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा' मे घुमक्कड़ी के लिए आवश्यक प्रवृत्तियो और साधनों का उत्तम प्रतिपादन हुआ है। रघुवीर सिंह अपनी अतीत मे रमण कराने वाली कल्पना और भावात्मक शैली के लिए प्रसिद्ध है। इतिहास के अवशेषों के प्रति उनके मन मे अपूर्व मोह है। उनका 'अवशेष' निवध उनकी अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति और भावात्मक शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल गंभीर विद्वान्, मान्य पुरातत्त्वविद् और भारतीय सस्कृति के श्रेष्ठ अध्येता थे। उनका 'राष्ट्र का स्वरूप' निबंध

उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। डॉ० नगेन्द्र आधुनिक युग के श्रेष्ठ आलोचक है। उन्होंने प्राचीन एव नवीन साहित्य तथा पाश्चात्य एवं भारतीय काव्य-शास्त्र का गहन अध्ययन करके साहित्य के सम्वन्ध मे अपनी मान्यताएँ स्थिर की है। 'आलोचक की आस्था' निवंध में उनकी मान्यताओं का स्पष्ट और गभीर स्वरुप परिलक्षित होता है। श्री हरिशंकर परसाई हिन्दी की वर्तमान पीढी के श्रेष्ठ व्यग्यकार है। उनका 'निन्दा रस' निर्दोष व्यग्य का अच्छा उदाहरण है। विद्यानिवास मिश्र संस्कृत साहित्य एव भापाविज्ञान के पडित है। वे अपनी सास्कृतिक एव मागलिक दृष्टि के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्हे अपने राष्ट्र की सास्कृतिक सपदा पर गर्व है। उनका 'हिमालय' निवध प्रेरणाप्रद आत्मव्यजक शैली का साक्षी है। डॉ० सम्पूर्णानन्द देश के माने-जाने विद्वान् और शिक्षाविद् रहे है। उनका 'शिक्षा का उद्देश्य' निवंध शिक्षा के व्यावहारिक एव नैतिक दोनों प्रकार के उद्देश्यों पर प्रकाश डालने वाला विचारात्मक शैली का श्रेष्ठ निवंध है। जैनेन्द्र कुमार गाँधीवादी विचारक है। वे किसी विषय को लेकर अपनी दृष्टि से विचार करते हुए उसकी तह मे पहुँच जाते है। उनका 'भाग्य और पुरुपार्थ' निवध उनकी मौलिक चिन्तन शैली का परिचायक है। 'अज्ञेय' वहुश्रुत और वहुपठित रचनाकार है। ये अमूर्त विपयों पर भी सहज ढग से आत्मव्यजक शैली मे विचार कर सकते है। उनका 'सन्नाटा' निवंध उनकी वहुज्ञता तथा कलात्मक प्रतिपादन शैली का द्योतक है। वावू श्यामसुन्दर दास हिन्दी के प्रख्यात विद्वान् और अनन्य सेवक थे। उन्होने साहित्य के सभी पक्षो पर सुगम एवं सुवोध शैली में विचार किया है। उनका 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ' निवध उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी हिन्दीतर प्रदेश के एक कर्मठ, उत्साही एवं निष्ठावान हिन्दी-प्रेमी विद्वान् है। उनके 'भाषा और आधुनिकता' निवंध मे आधुनिक जीवन दृष्टि का, हिन्दी भापा पर पडने वाले प्रभावो का विवेचन किया गया है। यह निवध भाषा और गतिशील सामाजिक चेतना के सम्वन्धों को स्पष्ट करने के कारण अपना विशेप महत्त्व रखता है। इस प्रकार प्रस्तुत संग्रह में वर्णनात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, भावात्मक, आत्मव्यजक, व्यग्यात्मक आदि सभी शैलियो का प्रतिनिधित्व करने वाले निवध संगृहीत है। निवधो को पढ़कर छात्र इन सभी प्रकार की शैलियो से परिचित हो सकते है और इनके सम्बन्ध मे स्पष्ट धारणा वना सकते है।

छात्रो का मानसिक संस्कार करना, उनमे जीवन के प्रति रचनात्मक

स्वस्थ एवं व्यापक दृष्टिकोण विकसित करना, मानवीय भावनाओं एवं मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करना तथा राष्ट्र की एकता और अखण्डता की चेतना जाग्रत करना साहित्य-शिक्षा का लक्ष्य हैं। इस लक्ष्य की पूर्ति सकलन का चौथा उद्देश्य है। प्रस्तुत संकलन इस लक्ष्य की पूर्ति मे पूर्णतः समर्थ है। निबन्धों का चयन करते समय उनमे निहित मन्तव्यों एवं मूल्यों के प्रभाव और उपयोगिता पर भी विचार किया गया है। संकलन के सभी निबंध सुरुचिपूर्ण हैं। उनमे नैतिक एवं रचनात्मक दृष्टि को ही महत्त्व दिया गया है। वे देश की एकता के पोपक एवं व्यापक मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाले हैं।

जीवन के सभी उपादानों और तत्त्वों की भाँति भाषा एवं साहित्य भी गतिशील तत्त्व हैं। इनका स्वरूप समय एव युग-प्रवृत्ति के परिवर्तन के साथ बदलता रहता है। इसलिए साहित्य के विद्यार्थी को सस्कारतः आग्रह-मुक्त होना चाहिए। न उसमे प्राचीनता के प्रति मोह होना चाहिए और न नवीनता के प्रति आग्रह। प्राचीन एव नवीन के बीच सतुलन बनाये रखना एक विवेकशील साहित्य-अध्येता के लिए आवश्यक है। प्रस्तुत सकलन मे प्राचीन एवं नवीन के सतुलन पर भी ध्यान रखा गया है। संकलन को छात्रो को सौंपते हुए हम चाहेंगे कि सच्चे साहित्य-अध्येता के रूप मे वे आग्रह-मुक्त होकर उसे स्वीकारें। हिन्दी भापा और साहित्य का जो रूप आज है वह पहले नही था और आगे भी वह नही रहेगा। उसमे विकास और परिष्कार होता आया है और होता रहेगा। हर जीवित भाषा मे यह विकास-प्रक्रिया चलती रहती है। इसलिए आज के मानदण्ड को आधार वनाकर भारतेन्दु कालीन भाषा एव वर्तनी को सुधारना या बदलना इतिहास के साथ अन्याय करना होगा। साथ ही भविष्य के लिए आज से ही कोई आग्रह वनाकर चलना भी अनुचित होगा। हमारा विश्वास है कि हमारे छात्र साहित्य और भाषा के प्रति सतुलित दृष्टि विकसित करने में समर्थ होंगे।

भूमिका

गद्य का स्वरूप विश्लेषण

हिन्दी-साहित्य का आधुनिक युग गद्य के विकास, संस्कार और प्रयोग-वैविध्य का युग है। इसलिए आधुनिक युग को गद्य-युग भी कहा गया है। विगत सौ वर्षों मे हिन्दी-गद्य की जो प्रगति हुई है वह चकित कर देने वाली है। हिन्दी-गद्य के इस अपूर्व विकास से परिचित होने के पूर्व आवश्यक है कि हम गद्य एव पद्य की सापेक्षिक स्थिति को भलीभाँति पहचान कर गद्य के स्वरूप और उसकी पारिभाषिक सीमा के सम्बन्ध मे स्पष्ट धारणा बना लें।

साहित्य के दो शैली-भेद सामान्यतः सर्वविदित हैं—गद्य और पद्य। गद्य वाक्यबद्ध विचारात्मक रचना होती है और पद्य छन्दबद्ध या लयबद्ध भावात्मक रचना। इस प्रकार सामान्यतः विचारात्मकता और भावात्मकता इन दोनों साहित्य-प्रकारो के भेदक तत्त्व माने जा सकते हैं। इसका यह आशय नही कि गद्य भावात्मक और पद्य विचारात्मक नही हो सकता, या नही होना चाहिए। इसका आशय इतना ही है कि गद्य मे हमारी बौद्धिक चेष्टाएँ और चिन्तनशील मन स्थितियाँ अपेक्षाकृत सुगमता से व्यक्त हो सकती हैं जब कि पद्य मे भावपूर्ण मन.स्थितियों की अभिव्यक्ति सहज होती है। पद्य में संवेदना और कल्पना की प्रमुखता होती है और गद्य में विवेक एव तर्क की। इसलिए पद्य को 'हृदय की भाषा' कहा जा सकता है और गद्य को 'मस्तिष्क की भाषा'। दोनो का अन्तर समझने के लिए यह स्थूल आधार बनाना आवश्यक है, पर इसे पूर्ण, व्यापक और अपवादरहित नही मान सकते। उदाहरण के लिए कहानी, संस्मरण, ललित निबंध और विशेषतः नाटक अत्यन्त भावात्मक भी हो सकते हैं, फिर भी वे गद्य की कोटि मे ही रखे जाते हैं। अत. भावात्मकता और विचारात्मकता का उपर्युक्त आधार गद्य और पद्य का मात्र सामान्य अंतर समझने के लिए है।

गद्य-लेखक व्याकरण की अवहेलना नहीं कर सकता, जब कि पद्य-लेखक

व्याकरण मे बँधकर नही चल सकता। पद्य-लेखक छन्द और लय से अनुशासित होता है और गद्य-लेखक वाक्य-विन्यास मे पदों की योजना करते समय व्याकरण द्वारा उनके निर्दिष्ट स्थान को महत्त्व देने के लिए विवश होता है। गद्यकार को सहारा देते हैं विराम चिह्न, और पद्य-लेखक को यति, गति, लय। गद्य मे शब्दो का स्थान पूर्णतः निश्चित होता है। वे मनमाने स्थान पर नहीं रखे जा सकते है। पद्य मे वे जहाँ चाहे बैठ सकते है। इसलिए पद्य का अन्वय करना पड़ता है, गद्य का कोई अन्वय नही करना पड़ता। इस प्रकार गद्य मे भाषा का एक व्यवस्थित और अनुशासित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। गद्य मे अधिकाशतः निश्चित अर्थ वाले शब्दों का प्रयोग होता है, जब कि उत्तम कविता मे साकेतिक और व्यजक शब्दों का प्राधान्य रहता है।

गद्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए इस शब्द की व्युत्पत्ति करके भी देख सकते हैं। यह शब्द 'गद्' धातु के साथ 'यत्' प्रत्यय जोड़ने से बनता है। 'गद्' का अर्थ होता है 'बोलना', 'बतलाना' या 'कहना।' दैनिक जीवन की सामान्य बोलचाल की शैली में गद्य का ही प्रयोग होता है। पद्य में कोई बोलता या बात-चीत नही करता। इससे सिद्ध होता है कि गद्य का सम्बन्ध व्यावहारिक जीवन से अधिक है। व्यावहारिक जीवन मे हम बुद्धि से ही अधिक काम लेते हैं। बुद्धि का सम्बन्ध विचारो से होता है। इस प्रकार विचारों के प्रकाशन के लिए गद्य का माध्यम उपयुक्त होता है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि व्यावहारिकता, बौद्धिकता और वैचारिकता को गद्य के स्वरूप का निर्धारक मान लेने पर हम शुद्ध साहित्य की सीमा से बाहर विज्ञान और मानविकी के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाते है, क्योकि ये विषय तथ्यपरक और वैचारिक होते हैं। ऐसी स्थिति मे यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि गद्य वैज्ञानिक विषयों के लिए ही उपयुक्त होता है। ललित साहित्य के लिए उसका प्रयोग अनुचित है। किन्तु बात ऐसी नही है। ललित साहित्य गद्य मे भी सशक्त और प्रभावपूर्ण ढंग से लिखा जाता है। यहाँ जो कुछ कहा गया है सापेक्षिक दृष्टि से कहा गया है। पद्य का सम्बन्ध अनुभूति से अपेक्षाकृत अधिक है, गद्य का कम। इसीलिए अन्वेषण, परीक्षण और तत्त्व-चिंतन से प्राप्त निष्कर्ष गद्य में ही व्यक्त होते हैं। अनुभव एवं सवेदना से प्राप्त मार्मिक तत्त्व पद्य और गद्य दोनों में व्यक्त हो सकते हैं किन्तु पद्य मे अनुभूति का सहज सम्बन्ध होने के कारण वहाँ वे चित्रित और बिम्बित होते है और गद्य में वर्णित, सूचित या कथित होते हैं। इसीलिए जब

गद्य की भाषा विम्ब-विधायिनी हो जाती है तो वह लालित्यपूर्ण होकर पद्य के निकट आ जाती है और पद्य की भाषा जव तथ्यपरक और वर्णनात्मक होती है तव वह गद्य की प्रकृति के निकट आ जाती है। इस विवेचन से सिद्ध है कि भावतत्त्व, गद्य और पद्य दोनो के लिए अपेक्षित है। अन्तर इतना ही है कि पद्य मे उसका आधिक्य और प्राधान्य होता है, जवकि गद्य मे वह विचारतत्त्व के साथ संतुलित होता है। अतः भावतत्त्व और विचारतत्त्व का सतुलन उत्तम गद्य की कसौटी ठहरता है। उत्तम गद्य की आन्तरिक पहचान हुई : भावतत्त्व और विचारतत्त्व का सतुलन। गद्य की विभिन्न विधाओ मे इस सतुलन के स्वरूप मे सापेक्षिक भिन्नता लक्षित की जा सकती है, अर्थात् कही विचार का पलड़ा भारी हो जाता है तो कही भाव का।

उत्तम गद्य की इस आन्तरिक पहिचान के अनन्तर, अव उसकी वाहरी पहिचान पर भी विचार करना आवश्यक है। प्रारभ मे ही कहा जा चुका है कि "गद्य वाक्यवद्ध विचारात्मक रचना होती है।" इसी मे उसकी वाहरी पहिचान वतला दी गयी है अर्थात् 'वाक्यवद्धता'। आशय यह है कि विपय और परिस्थिति के अनुरूप शब्दों का सही स्थान-निर्धारण तथा वाक्यों की उचित योजना ही उत्तम गद्य की कसौटी है। प्रयोग और प्रयोजन की दृष्टि से गद्य की भाषा के तीन प्रकार बताये जा सकते है--दैनिक व्यवहार की भाषा, शास्त्रीय विवेचन की तर्कपूर्ण भापा और साहित्यिक ललित भाषा। इनके अतिरिक्त लेखक के व्यक्तित्व एव मनःस्थिति और विषय के स्तर के आधार पर भी गद्य की विभिन्न शैलियाँ जन्म लेती है, यथा–समास, व्यास, धारा, विक्षेप, तरग आदि शैलियाँ। गद्य की विभिन्न विधाओ के लिए एक ही शैली काम नही दे सकती। इनमे शब्दो के चयन, मुहावरो, सूक्तियो और सूत्रो आदि के विविध प्रयोग, वाक्यो के दीर्घ और लघु विन्यास तथा उद्देश्य और विधेय के क्रम-परिवर्तन द्वारा, गद्य-विधान के अनेक रूप सघटित किये जा सकते है। विभिन्न गद्य-विधाओं—निबंध, नाटक, कहानी, संस्मरण, एकाकी, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, यात्रावृत्त, जीवनी, डायरी, पत्र, भेंट-वार्ता आदि—मे गद्यशली के प्रयोग-वैविध्य को देखकर आश्चर्य होता है। वस्तुतः आज गद्य-साहित्य जीवन की प्रत्येक स्थिति और गति को व्यक्त करने मे समर्थ है। इसलिए उसके शैलीगत भेद पद्य-शैली के भेदो-प्रभेदो से भी अधिक हो गये है। इसलिए हिन्दी-गद्य के समग्र रूप एव सपूर्ण शक्ति के विकासात्मक परिचय के लिए उसके क्रमवद्ध इतिहास का अध्ययन आवश्यक है।

हिन्दी गद्य और उसकी विधाओं का विकास

हिन्दी की व्याख्या

हिन्दी शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थो मे किया जाता है। व्यापक अर्थ में हिन्दी आठ वोलियो (व्रज, खड़ीबोली, बुन्देली, हरियाणी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) और तीन उपभाषाओं (राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी) के संपूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी के अन्तर्गत उपर्युक्त आठ बोलियों को ही परिगणित किया जाता है। सीमित अर्थ में हिन्दी से दिल्ली-मेरठ के आसपास बोली जाने वाली खड़ीबोली के परिनिष्ठित एवं साहित्यिक रूप का ही अर्थ ग्रहण किया जाता है। जो हिन्दी आज पूरे भारतवर्ष की राजभाषा के रूप में मान्य है और हिन्दी प्रदेश के विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है वह खड़ीबोली का ही परिनिष्ठित रूप है।

हिन्दी-गद्य के प्राचीन रूप

आज हिन्दी-गद्य से खड़ीबोली के साहित्यिक एवं परिनिष्ठित गद्य का ही अर्थ लिया जाता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उसका विकास अपेक्षाकृत बाद की घटना है। काल-क्रम से राजस्थानी गद्य और ब्रजभाषा गद्य इन दोनों का उद्भव खड़ीवोली गद्य से पहले हुआ था। **राजस्थानी गद्य** तेरहवी शताब्दी ई० से प्राप्त होता है। इसमें ललित और उपयोगी दोनों प्रकार का साहित्य मिलता है। आरम्भिक राजस्थानी गद्य का सम्बन्ध जैन धर्म से है। उसमें जैन धर्म के उपदेश और सिद्धान्त लिखे गये है। परवर्ती राजस्थानी गद्य में 'चरित्र', 'वचनिका', 'कथा', 'वात', 'ख्यात', 'पत्र', 'वंशावली' आदि अधिक मिलते हैं। भक्ति और रीतिकाल मे राजस्थानी गद्य का पर्याप्त प्रचार रहा है। **ब्रजभाषा गद्य** में सर्व प्रथम गोरखपथी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। भाषा प्रयोग की दृष्टि से ये रचनाएँ तेरहवीं-चौदहवी शताब्दी ई० की न होकर सत्रहवीं शताब्दी की जान पड़ती हैं। ब्रजभापा गद्य के प्राचीनतम नमूने सन् १५१२ के पूर्व के नही है। ब्रजभापा गद्य 'मौलिक', 'अनूदित', 'टीकात्मक', 'पद्य-प्रधान' आदि कई रूपों मे प्राप्त होता है। इसमें वैष्णव भक्ति-साहित्य और रीतिकालीन साहित्यिक रचनाओं की टीकाएँ प्राप्त हैं। खड़ीवोली गद्य की प्रामाणिक रचनाएँ सत्रहवी शताब्दी ई० से प्राप्त होती हैं। इस संदर्भ मे सन् १६२३ मे लिखित जटमल कृत 'गोरा बादल की कथा' उल्लेख्य है। आरम्भिक खड़ीवोली गद्य ब्रजभाषा से प्रभावित है। 'खड़ीवोली' नाम पड़ने का कारण सभवत इसका 'खरा' होना है। कुछ लोग मधुर ब्रजभाषा की तुलना

में इसके कर्कश होने के कारण इसे 'खड़ीबोली' कहना उपयुक्त समझते हैं। कुछ लोगों की धारणा है कि मेरठ के आसपास की पड़ी बोली को खड़ी बनाकर लश्करों मे प्रयोग किया गया इसलिए इसे 'खडीबोली' कहते हैं। ब्रजभाषा के प्रभाव से मुक्त खड़ीबोली गद्य का आरम्भ उन्नीसवी शताब्दी से माना जा सकता है। 'खडीबोली' गद्य का एक रूप 'दक्खिनी गद्य' का है। मुहम्मद तुगलक के जमाने में अच्छी संख्या में उत्तर के मुसलमान दक्षिण मे जाकर बस गये थे। इनके साथ इनकी भाषा भी दक्षिण पहुँची और वहाँ 'दक्खिनी हिन्दी' का विकास हुआ। दक्खिनी हिन्दी में गद्य और पद्य दोनो ही लिखे गये हैं। दक्खिनी खड़ीबोली गद्य का प्रामाणिक रूप सन् १५८० से प्राप्त है। इसमें प्रायः सूफी धर्म के सिद्धान्त लिखे गये हैं।

खड़ीबोली गद्य का विकास

खड़ीबोली गद्य के प्रारम्भिक उन्नायकों में विशेषरूप से चार लेखकों का उल्लेख किया जाता है। मुशी सदासुख लाल (राय) (सन् १७४६-१८२४), मुशी इंशा अल्ला खाँ (सन् १८१८), सदल मिश्र (सन् १७६८-१८४८), पडित लल्लूलाल। इन लेखको से कुछ पहले पटियाला दरबार के रामप्रसाद निरंजनी और मध्य प्रदेश के पं० दौलतराम ने साधु और व्यवस्थित खड़ीवोली का प्रयोग अपनी रचनाओ में किया था। रामप्रसाद निरजनी के 'भाषा योग वाशिष्ठ' की भाषा अधिक परिष्कृत है। मुशी सदासुख लाल (राय) दिल्ली के रहने वाले थे। इन्होंने विष्णुपुराण का एक अंश लेकर उसे खड़ीबोली गद्य में प्रस्तुत किया। धार्मिक ग्रंथ होने के कारण इसमे पडिताऊपन अधिक है। वाक्य-रचना पर फारसी शैली का प्रभाव है। मुशी इंशा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है। इनकी शैली हास्य-प्रधान और चटपटी है। तुकान्त वाक्यों का प्रयोग अधिक है। मुशी जी लखनऊ के नवाब सआदत अली खाँ के दरबार में रहते थे। इसलिए उनकी शैली मे तड़क-भड़क, शोखी और रंगीनी अधिक है। सदल मिश्र जिला आरा (बिहार) के निवासी थे। यह कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज में हिन्दी के शिक्षक के रूप में कार्य करते थे। 'नासिकेतोपाख्यान' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इसमे पूर्वीपन अधिक है और वाक्य-रचना शिथिल है। पडित लल्लूलाल आगरा के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। यह भी फोर्ट विलियम कालेज मे नियुक्त थे। इनकी प्रसिद्ध रचना 'प्रेमसागर' है। इसका गद्य ब्रजभाषा प्रभाव से मुक्त नही है। कही-कही तुक-मैत्री का मोह खटकता है। भाषा परिमार्जित

नही है। जिस समय ये लेखक हिन्दी खड़ीबोली गद्य में कहानी और आख्यान लिख रहे थे उसी समय ईसाई मिशनरी भी ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए बाइबिल का हिन्दी खड़ीबोली गद्य मे अनुवाद कराकर उसका प्रचार कर रहे थे। जनता के जीवन में घुलमिल कर उसे अपने अनुकूल बनाने के प्रयत्न में इन लोगों ने हिन्दी भाषा की सेवा की और हिन्दी-गद्य के विकास मे विशेष योग दिया। सामान्यत. ईसाई मिशनरियों की भाषा भी अपरिमार्जित और ऊबड़-खाबड़ है। तात्पर्य यह कि अठारहवीं शताब्दी ई० के अंतिम चरण और उन्नीसवी शताब्दी ई० के प्रथम चरण मे खडीबोली गद्य के किसी भी लेखक की भाषा पूर्णतः परिमार्जित नही है। इन लेखकों का खड़ीबोली गद्य के विकास-क्रम में ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है।

भारतीय जागरण

उन्नीसवीं शताब्दी ई० के द्वितीय एवं तृतीय चरण में हमारे देश के सामाजिक-सास्कृतिक ढाँचे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शिक्षा का पश्चिमीकरण हुआ। यातायात के साधनों मे वृद्धि हुई। सामन्तवादी शासन-व्यवस्था का अन्त हुआ। अंग्रेजों की नौकरशाही पर आधृत नवीन शासन-व्यवस्था ने अराजकता की स्थिति को दूर कर देश में शान्ति स्थापित की। 'प्रेसों' की स्थापना के साथ अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार से नवीन चेतना की लहर दौड़ गयी और अनेक सामाजिक, धार्मिक आन्दोलनो ने देश के जन-मानस को मथकर उसे आधुनिक विचारधाराओं को ग्रहण करने की स्थिति मे ला दिया। इस नवीन चेतना के अभ्युदय को भारतीय जागरण (रेनेसाँ) की संज्ञा दी गयी है। इस जागरण को देशव्यापी रूप देने और इसकी गति को तीव्र करने मे 'ब्रह्म समाज' (सन् १८२८), 'रामकृष्ण मिशन', 'प्रार्थना समाज' (सन् १८६७), 'आर्य समाज' (सन् १८६७) और 'थियोसॉफिकल सोसाइटी' (सन् १८८२) जैसी संस्थाओं का विशेष योगदान माना जाता है। उत्तर भारत मे इस नये जागरण का आरंभ बंग प्रदेश से हुआ। यही से समाचार-पत्रों के प्रकाशन की शुरुआत भी हुई। यह प्रदेश ब्रजभाषा केन्द्र से बहुत दूर पड़ता था। इसलिए नवीन चेतना को व्यक्त करने का दायित्व खड़ीबोली गद्य को ही वहन करना पड़ा। यह स्मरणीय है कि इस समय तक उत्तर भारत मे पंजाब से लेकर बंग प्रदेश तक खड़ीबोली गद्य का प्रसार हो चुका था।

भारतेन्दु का उदय

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में हिन्दी साहित्य का आकाश, भारतेन्दु (सन् १८५०-१८८५) के पूर्ण प्रकाश से जगमगा उठा। उनसे कुछ वर्ष पूर्व हिन्दी खड़ीबोली गद्य के क्षेत्र में दो महत्त्वपूर्ण व्यक्ति गद्य की दो भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। एक थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (सन् १८२३-१८९५) और दूसरे थे राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६-१८९६)। राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी को पाठशालाओं के पाठ्य-क्रम में स्थान दिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। वे हिन्दी का प्रचार तो चाहते थे किन्तु उसे अधिक नफीस बनाकर उर्दू जैसा रूप प्रदान करने के पक्ष में थे। दूसरी ओर राजा लक्ष्मणसिंह सस्कृत-निष्ठ हिन्दी के पक्षपाती थे। भारतेन्दु ने इन दोनो सीमान्तों के बीच का मार्ग ग्रहण किया। उन्होंने हिन्दी-गद्य को वह रूप प्रदान किया जो हिन्दी-प्रदेश की जनता की मनोभावना के अनुकूल था। उनका गद्य व्यावहारिक, सजीव और प्रवाहपूर्ण है। उन्होने यथासंभव लोक-प्रचलित शब्दावली का प्रयोग किया है। उनके वाक्य छोटे-छोटे और व्यंजक है। कहावतो, लोकोक्तियों और मुहावरों के यथोचित प्रयोग से उनकी भापा प्राणवान और स्वाभाविक वन गयी है। यह होने पर भी भारतेन्दु का गद्य पूर्ण परिमार्जित नही है। उनका गद्य भी ब्रजभाषा के प्रयोगो से प्रभावित है और कही-कही व्याकरण की त्रुटियाँ खटकती है।

भारतेन्दु के सहयोगी

भारतेन्दु का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली था। वे सुलझे हुए व्यक्ति थे। लोक की गति को पहचानते थे। जनता की भावनाओं को समझते थे और देश एव जाति की उन्नति के लिए सर्वस्व अर्पित करने के लिए तत्पर रहते थे। उनके समकालीन लेखक उन्हें अपना आदर्श मानते थे। बालकृष्ण भट्ट (सन् १८४४-१९१४), प० प्रतापनारायण मिश्र (सन् १८५६-१८९४), राधाचरण गोस्वामी (सन् १८५९-१९२५), वद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (सन् १८५५-१९२३), ठाकुर जगमोहन सिंह (सन् १८५७-१८९९), राधाकृष्ण दास (सन् १८६५-१९०७), किशोरीलाल गोस्वामी (सन् १८६५-१९३२) आदि गद्य लेखक उनसे प्रेरित और प्रभावित थे। इन सभी लेखको ने हिन्दी-गद्य के विकास में पूरा-पूरा सहयोग दिया। ये सभी गद्य लेखक पत्रकार भी थे। इनका उद्देश्य उद्वोधन, आह्वान, व्याख्या, टिप्पणी आदि के द्वारा जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध

करता था। पं० वालकृष्ण भट्ट इ।हाबाद से 'हिन्दी प्रदीप' नामक मासिक पत्र निकालते थे। इस पत्र मे उनके निबंध प्रकाशित होते थे। भट्ट जी संस्कृत के पंडित और अंग्रेजी के जानकार थे। उनकी भाषा-नीति उदार थी। आवश्यकतानुसार उन्होंने अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत एवं लोकभाषा सभी से शब्द लिये हैं। उनका व्यक्तित्व खरा था। इसलिए-उनकी शैली मे भी मृदुता के स्थान पर खरापन है। प्रतापनारायण मिश्र कानपुर से 'ब्राह्मण' पत्र निकालते थे। वे मनमौजी व्यक्ति थे। उनकी शैली मे उनका फक्कड़पन स्पष्ट है। उनकी भाषा पर बैसवाड़ी बोली का विशेष प्रभाव है। उनकी भाषा मे ठेठ ग्रामीण प्रयोग अधिक मिलते है। वद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', 'आनंदकादम्बिनी' का संपादन करते थे। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ और शैली काव्यात्मक एवं अलंकृत है। उनके वाक्य लवे और समास-वहुल हैं। भारतेन्दु के अन्य सहयोगियो ने भाषा एव शैली के सम्वन्ध में इन्ही लेखकों का आदर्श सामने रखा। भारतेन्दु-युग में हिन्दी-गद्य का स्वरूप वहुत कुछ स्थिर हुआ। उसका व्यापक प्रसार हुआ। उसमे साहित्य के अनेक रूपों का सृजन आरम्भ हुआ किन्तु अभी उसके परिष्कार और परिमार्जन की आवश्यकता वनी हुई थी। यह कार्य आगे चलकर द्विवेदी युग मे पूरा हुआ।

द्विवेदी-युगीन गद्य

सन् १६०० तक भारतेन्दु युग की समाप्ति मानी जाती है। सन् १६०० से १६२२ तक अर्थात् वीसवी शताब्दी के प्रथम चरण को हिन्दी-साहित्य मे द्विवेदी-युग माना जाता है। इस युग को जागरण-सुधार काल भी कहा गया है। हिन्दी गद्य-साहित्य के इतिहास मे पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६४-१६३८) का आविर्भाव एक महत्त्वपूर्ण घटना है। द्विवेदीजी रेलवे के एक साधारण कर्मचारी थे। उन्होंने स्वेच्छा से हिन्दी, अंग्रेजी, सस्कृत, मराठी और वगला भाषाओं का अध्ययन किया था। सन् १६०३ में आपने रेलवे की नौकरी छोड़कर 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन आरंभ किया। 'सरस्वती' के माध्यम से आपने हिन्दी-साहित्य की अभूतपूर्व सेवा की। द्विवेदीजी ने व्याकरण-निष्ठ, समर्मित, सरल, स्पष्ट और विचारपूर्ण गद्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। भाषा के प्रयोगों मे एकरूपता लाने और उसे व्याकरण के अनुशासन में लाकर व्यवस्थित करने मे द्विवेदीजी ने स्तुत्य प्रयास किया। इसी समय वावू वालमुकुन्द गुप्त उर्दू से हिन्दी में आये। उन्होने हिन्दी-गद्य को मुहावरेदार, सजीव

और परिष्कृत करने मे पूरा-पूरा योग दिया। 'अनस्थिरता' शब्द के प्रयोग को लेकर द्विवेदीजी से उनका विवाद प्रसिद्ध है। इस युग मे द्विवेदीजी के अतिरिक्त माधव मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा, सरदार पूर्णसिंह, बाबू श्यामसुन्दर दास, मिश्रबन्धु, लाला भगवानदीन, चन्द्रधरशर्मा गुलेरी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, गणेशशंकर विद्यार्थी आदि लेखकों ने हिन्दी-गद्य के विकास मे योग दिया। इस युग मे गद्य-साहित्य के विभिन्न रूपों का विकास हुआ और गंभीर निबध, विवेचनापूर्ण आलोचनाएँ तथा मौलिक कहानियाँ, उपन्यास और नाटक लिखे गये। इस युग मे काशी मे बाबू श्यामसुन्दर दास ने 'नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना की और हिन्दी के उपयोगी एवं गभीर साहित्य के निर्माण की दिशा मे स्तुत्य प्रयास किया। 'सरस्वती' के अतिरिक्त 'इन्दु', 'सुदर्शन', 'समालोचक', 'प्रभा', 'मर्यादा', 'माधुरी' आदि पत्रिकाएँ इसी युग मे प्रकाशित हुई। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और बाबू गुलाबराय ने चिन्तनप्रधान गद्य के विकास मे उल्लेखनीय कार्य किया। द्विवेदी-युग म गद्य-शैली के अनेक रूप सामने आये। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी की साफ-सुथरी, सयमित, परिमार्जित, प्रसन्न शैली, बाबू श्यामसुन्दर दास की औदात्यपूर्ण व्यास शैली, गोविन्दनारायण मिश्र की तत्सम-प्रधान, समास-बहुल, पाडित्यपूर्ण शैली, बालमुकुन्द गुप्त की ओजस्वी, प्रवाहपूर्ण, तीखी, व्यग्य शैली, मिश्रबन्धुओं की सूचना-प्रधान, तथ्यान्वेषिणी शैली, पद्मसिंह शर्मा की प्रशसात्मक शैली, सरदार पूर्णसिंह की लाक्षणिक एवं आवेगशील शैली, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की पाडित्यपूर्ण, व्यग्यमयी शैली, गणेशशकर विद्यार्थी की मर्मस्पर्शी, ओजस्वितापूर्ण, मूर्तविधायिनी शैली, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की सुबोध और रमणीय गद्य शैली, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की चिन्तन-प्रधान, आत्मविश्वास मडित, तत्त्वान्वेषिणी, समास शैली और बाबू गुलाबराय की सहज हास्यपूर्ण तथा विषयानुसार विचार-प्रधान एव सयमित शैली के वैविध्यपूर्ण विधान से द्विवेदी-युगीन गद्य-साहित्य अद्भुत गरिमा से मडित हो गया है।

छायावाद-युगीन गद्य

सन् १९१९ में गाँधी का असहयोग आन्दोलन असफल हुआ। पजाब के जलियानवाला पार्क मे निहत्थी और असहाय जनता को गोलियो से भून दिया गया। भगतसिंह को फाँसी दी गयी। इन घटनाओ ने राष्ट्रीयचेतना को और दृढ किया। युवको का कल्पनाशील मानस कुछ कर गुजरने के लिए तडपने लगा। पराधीनता और विवशता की अनुभूति से यदि कभी वेदना और पीडा के गीत गाये गये तो

दूसरे ही क्षण स्वाधीनता के लिए सतत सघर्ष की बलवती प्रेरणा ने उत्साह, स्फूर्ति और आत्मविश्वास की भावना को मुखरित किया। द्विवेदी-युग सब मिलाकर नैतिक-मूल्यों के आग्रह का युग था। इसलिए नवीन भावनाओं से प्रेरित युवालेखक इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप भाव-तरल, कल्पना-प्रधान एव स्वच्छन्द चेतना से युक्त साहित्य रचने मे प्रवृत्त हुए। यह प्रवृत्ति कविता और गद्य दोनो ही क्षेत्रो में लक्षित होती है। सन् १६१६ से १६३८ तक के काल-खंड को हिन्दी-साहित्य के इतिहास मे छायावाद-युग नाम दिया गया है। इस युग की सीमा में रचित गद्य अधिक कलात्मक हो गया है। उसकी अभिव्यंजना-शक्ति विकसित हुई है। वह चित्रण-प्रधान, लाक्षणिक, अलकृत और कवित्वपूर्ण हो गया है। उसमे अनुभूति की सघनता और भावो की तरलता है। उसकी प्रकृति अन्तर्मुखी हो गयी है। रायकृष्णदास, वियोगीहरि, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिह, प० माखनलाल चतुर्वेदी, जयशकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, 'पत', 'निराला', नन्ददुलारे वाजपेयी, बेचनशर्मा 'उग्र', शिवपूजनसहाय आदि गद्य-लेखकों ने छायावाद-युगीन गद्य-साहित्य को समृद्ध किया है। द्विवेदी-युग के उत्तरार्ध मे जो लेखक सामने आये थे वे छायावाद-युग में भी लिखते रहे और उनकी प्रौढ़तम रचनाएँ इसी युग में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। इनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय तथा पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी प्रमुख हैं। इनकी साहित्य-चेतना का मूल स्वर द्विवेदी-युगीन ही है किन्तु छायावाद-युग के अतीत प्रेम, सहज रहस्यमयता और लाक्षणिकता के महत्त्व को इन लेखको ने भी स्वीकार किया है। उपर्युक्त लेखको में रायकृष्णदास और वियोगीहरि अपने भावपूर्ण प्रतीकात्मक गद्यगीतो के लिए, महाराजकुमार डॉ० रघुवीर सिंह अपनी अतीतोन्मुखी, भावतरल, रहस्यात्मक कल्पना के लिए, माखनलाल चतुर्वेदी अपनी प्रखर राष्ट्रीयता एवं स्वच्छन्द आलंकारिक शैली के लिए, जयशकर प्रसाद अपने मर्मस्पर्शी कल्पनाचित्र के लिए, 'पत' अपनी सुकुमार कल्पना और नादसौंदर्य-प्रधान गद्य के लिए, 'निराला' अपनी अद्भुत व्यग्यात्मकता और सहानुभूतिप्रवण रेखाकन क्षमता के लिए, महादेवी वर्मा अपनी करुण संवेदना एवं मर्मस्पर्शी चित्र-विधान के लिए, नन्ददुलारे वाजपेयी अपने गभीर अध्ययन और स्वतत्र चिन्तन के लिए, बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी तीखी प्रतिक्रिया तथा आवेगपूर्ण नाटकीय शैली के लिए तथा शिवपूजनसहाय अपनी ग्रामीण सरलता के लिए स्मरणीय है।

छायावादोत्तर गद्य

सन् १६३६ के वाद देश की स्थिति मे तेजी से परिवर्तन आरम्भ हुआ। सन् १६३७ मे काग्रेस ने पूरे देश मे अपने व्यापक प्रभाव का परिचय देते हुए छः प्रान्तों मे अपना मत्रिमंडल वना लिया। एक वार ऐसा लगा कि हम स्वतत्रता के द्वार पर खडे है। किन्तु शीघ्र ही निराश होना पड़ा। सन् १६३६ मे द्वितीय महायुद्ध आरभ हो गया। काग्रेस ने इगलैण्ड को युद्ध मे सहायता देना इस शर्त पर स्वीकार किया कि वह शीघ्र भारत मे एक स्वतंत्र जनवादी सरकार की स्थापना करे। ब्रिटिश सरकार की ओर से कोई सतोषजनक प्रतिक्रिया न होने पर सन् १६३६ में काग्रेस मंत्रिमंडलो ने त्यागपत्र दे दिया। सन् १६४० मे कांग्रेस ने पूर्ण स्वतत्रता की माँग की और इसकी प्राप्ति के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया। सन् १६४२ में 'क्रिप्स-मिशन' भारत आया और अपने उद्देश्य में असफल रहा। इसी वर्ष काग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया। देश मे उग्र आन्दोलन हुआ और ब्रिटिश सरकार ने उसका पूरी शक्ति से दमन किया। सन् १६४५ मे महायुद्ध समाप्त हुआ। सन् १६४७ में भारत मे विदेशी सत्ता का अंत हुआ किन्तु इसके साथ ही देश का विभाजन भी हो गया। विभाजन के परिणामस्वरूप भीषण साम्प्रदायिक दगे हुए और देश की जनता तवाह हुई। इन घटनाओं ने हिन्दी-साहित्य को वहुत दूर तक प्रभावित किया। सन् १६३६ के वाद से ही हम कल्पना के लोक से उतर कर ठोस जमीन पर आने की चेष्टा करने लगे थे। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित लेखको ने प्रगतिवादी साहित्य-सृजन के प्रति प्रतिवद्धता दिखायी थी।

राष्ट्रीय सास्कृतिक चेंतना से प्रेरित लेखको ने भी क्रमशः यथार्थवादी जीवन-दर्शन को महत्त्व देना आरभ किया। छायावादी युग के कई लेखक नयी भूमि पर पदार्पण कर नवीन युग-चेतना के अनुसार साहित्य-रचना मे प्रवृत्त हुए। फलस्वरूप सन् १६३८ के वाद 'छायावाद' का अन्त हुआ। उसके वाद के साहित्य को छायावादोत्तर साहित्य कहा गया है। छायावादोत्तर युग मे साहित्यकारो की दो पीढियाँ साहित्य-रचना में प्रवृत्त है। एक पीढी उन साहित्यकारो की है जो स्वतत्रता-प्राप्ति के पूर्व से लिखते आ रहे थे और उसके वाद भी सक्रिय रहे है। दूसरी पीढी उन लेखकों की है जो स्वतत्रता-प्राप्ति के वाद साहित्य-सृजन मे प्रवृत्त हुए है। पहली पीढी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, शान्तिप्रिय द्विवेदी;

रामधारीसिह 'दिनकर', यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', नगेन्द्र, रामवृक्ष वेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, वासुदेवशरण अग्रवाल, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', भगवतशरण उपाध्याय आदि गद्य-लेखक है। दूसरी पीढ़ी मे विद्यानिवास मिश्र, हरिशकर परसाई, फणीश्वरनाथ 'रेणु', कुबेरनाथ राय, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह आदि उल्लेखनीय है। द्विवेदीजी के गद्य मे पाडित्य और चिन्तन के साथ ही सहजता एव सरसता का अद्भुत समन्वय है। भापा पर द्विवेदीजी का असाधारण अधिकार है। उन्होने हिन्दी-गद्य मे बाणभट्ट की समास-गुफित ललित पदावली अवतरित कर उसे अद्भुत गरिमा प्रदान की है। शान्तिप्रिय द्विवेदी अपनी प्रभावग्राहिणी प्रज्ञा और भावोच्छ्वसित शैली के लिए प्रसिद्ध है। 'दिनकर' के गद्य मे विचारशीलता, विपयवैविध्य एव व्यक्तित्व-व्यजना तीनों का समन्वय है। यशपाल और 'अश्क' का गद्य सामाजिक यथार्थ के विविध स्तरों को व्यक्त करने मे समर्थ है। भगवतीचरण वर्मा का गद्य सहज, व्यावहारिक, प्रवाहपूर्ण एवं व्यंग्यगर्भित है। अमृतलाल नागर के गद्य में लखनवी तर्ज की एक विशेष प्रकार की रवानी है। मूलत. कथाकार होने के नाते इन लेखको मे वर्णनात्मक शैली का विशेष आकर्षण है। जैनेन्द्र का गद्य उनकी दार्शनिक मुद्रा और मनोवैज्ञानिक निगूढता के लिए विख्यात है। 'अज्ञेय' अपनी बौद्धिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका गद्य चिन्तन-प्रधान एव परिष्कृत होने के साथ ही व्यक्तित्व-व्यंजक और व्यग्यगर्भित भी है। उन्होने हिन्दी-गद्य को आधुनिक परिवेश से जोड़ने का सफल प्रयत्न किया है। डॉ० नगेन्द्र का गद्य सामान्यत. तर्क-प्रधान, विश्लेषणपरक और आत्मविश्वास की गरिमा से पूर्ण होता है किन्तु, उसमें सदर्भ के अनुकूल नाटकीयता, व्यग्य तथा बिम्व-विधान भी लक्षित किया जा सकता है। रामवृक्ष बेनीपुरी अपने शब्द-चित्रो के लिए प्रसिद्ध है। ग्रामीण जीवन की निश्छल अभिव्यक्ति उनके गद्य को प्राणवान बना देती है। बनारसीदास चतुर्वेदी की ख्याति उनके संस्मरणों, जीवनियो और रेखाचित्रो के लिए है। उनकी शैली रोचक और भापा प्रवाहपूर्ण है। उनके छोटे-छोटे वाक्य अनुभव खण्डों को चित्रवत प्रस्तुत करते चलते है। वासुदेवशरण अग्रवाल का गद्य सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गरिमा से मडित है। उसमे विद्वत्ता, विचारशीलता और सरसता का अद्भुत समन्वय है। कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' अपने राजनीतिक संस्मरणो और रिपोर्ताजो के लिए प्रसिद्ध है। करुणा,

व्यंग्य और भावुकता के समावेश से उनका गद्य अत्यन्त आकर्षक हो गया है। भगवतशरण उपाध्याय इतिहास की चिरस्मरणीय घटनाओं को भावपूर्ण नाटकीय शैली मे प्रस्तुत करने मे समर्थ है। उनका गद्य उनके इतिहास-ज्ञान एव सस्कृति-वोध का परिचायक है। नयी पीढी के लेखको मे विद्यानिवास मिश्र अपनी मागलिक दृष्टि, सास्कृतिक-चेतना, लोक-सम्पृक्ति एव आधुनिक जीवन-वोध के लिए प्रसिद्ध हैं। उनका गद्य उनके व्यक्तित्व को साकार कर देता है। हरिशकर परसाई ने सामाजिक, राजनीतिक जीवन की विसगतियो पर तीखा व्यग्य किया हैं। उन्होंने हिन्दी-गद्य की व्यग्य-क्षमता को निखारा है। 'रेणु' का गद्य ध्वनि-विम्वो के माध्यम से वातावरण को सजीव वनाने मे सक्षम है। कुवेरनाथ राय ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की गद्य-परम्परा को आगे वढाया है। प्राचीन सांस्कृतिक एव साहित्यिक सदर्भो को नयी अर्थवत्ता प्रदान करके श्री राय ने हिन्दी-गद्य को नयी भाव-भूमि प्रदान की है। धर्मवीर भारती गंभीर एव विचारपूर्ण गद्य लिखते रहे हैं। इधर यात्रावृत्त, रिपोर्ताज तथा व्यग्य-विद्रूप लिखकर उन्होंने अपने गद्य को अपेक्षाकृत हल्की मन स्थितियो से जोड़ने की चेष्टा की हे। शिवप्रसाद सिंह लोक-चेतना से सम्पृक्त होते हुए भी व्यापक दृष्टि-सम्पन्न लेखक हैं। उनका गद्य उनकी व्यापक मानवीय सम्वन्ध चेतना का वाहक है। गद्य-लेखकों की इन दोनो पीढियो ने हिन्दी-गद्य को सशक्त वनाया है, उसकी शव्द-सम्पदा मे वृद्धि की है। उसे जीवन की वाह्य परिस्थितियो, सामाजिक सम्वन्धो, विसंगतियो, आधुनिक मानव के आन्तरिक द्वद्वो एव तनावो को व्यक्त करने मे सक्षम वनाया है। अनेक नवीन कलात्मक गद्य-विधानो का विकास किया है और सव मिलकर उसे राष्ट्रीय गरिमा प्रदान की है। अव हिन्दीतर प्रदेशो के लेखक भी हिन्दी मे रुचि लेने लगे है। विदेशो मे भी हिन्दी का प्रचार वढ रहा हे। हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल है और उसके विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित होने की सभावना वढ गयी है।

हिन्दी-गद्य की विधाएँ

हिन्दी-गद्य की विधाओ को दो वर्गो मे वाँटा जा सकता है। एक वर्ग प्रमुख विधाओ का है। इसमे नाटक, एकाकी, उपन्यास, कहानी, निवन्ध और आलोचना को रखा जा सकता है। दूसरा वर्ग गौण या प्रकीर्ण गद्य-विधाओ का है। इसके अन्तर्गत जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, गद्य-काव्य, सस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, डायरी, भेंट-वार्ता, पत्र-साहित्य आदि का उल्लेख किया जा सकता है। प्रमुख

विधाओ मे 'नाटक', 'उपन्यास', 'कहानी' तथा 'निबन्ध' और 'आलोचना' का आरम्भ जो भारतेन्दु-युग (सन् १८७०-१६००) मे ही हो गया था। किन्तु गौण या प्रकीर्ण गद्य-विधाओं मे कुछ का विकास द्विवेदी-युग और शेष का छायावाद और छायावादोत्तर युग मे हुआ है। द्विवेदी-युग मे 'जीवनी', 'यात्रावृत्त', 'संस्मरण' और 'पत्र-साहित्य' का आरम्भ हो गया था। छायावाद-युग मे 'गद्य-काव्य' तथा 'सस्मरण' और 'रेखाचित्र' की विधाएँ विशेष समृद्ध हुई। छायावादोत्तर-युग मे प्रकीर्ण गद्य-विधाओ का अभूतपूर्व विकास हुआ है। 'आत्मकथा', 'रिपोर्ताज', 'भेट-वार्ता', 'व्यंग्य-विद्रूप-लेखन', 'डायरी', 'एकालाप' आदि अनेक विधाएँ छायावादोत्तर युग मे विकसित और समृद्ध हुई है। यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रमुख गद्य-विधाएँ अपनी रूप-रचना मे एक-दूसरे से सर्वथा स्वतत्र है किन्तु प्रकीर्ण गद्य-विधाओ मे से अनेक निबध-विधा से पारिवारिक सम्बन्ध रखती है। एक ही परिवार से सम्बद्ध होने के कारण यह एक-दूसरे के पर्याप्त निकट प्रतीत होती है।

नाटक

नाटक वस्तुत. रूपक का एक भेद है। रूप का आरोप होने के कारण नाटक को रूपक कहा गया है। अभिनय के समय नट पर दुष्यन्त या राम जैसे ऐतिहासिक पात्र का आरोप किया जाता है। इसीलिए इसे रूपक कहते है। नट (अभिनेता) से सम्बद्ध होने के कारण इसे नाटक कहते है। नाटक मे ऐतिहासिक पात्रविशेष की शारीरिक एव मानसिक अवस्था का अनुकरण किया जाता है। आज नाटक शब्द अग्रेजी 'ड्रामा' या 'प्ले' का पर्याय वन गया है। हिन्दी मे मौलिक नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है। द्विवेदी-युग मे इसका अधिक विकास नही हुआ। छायावाद-युग में जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। छायावादोत्तर-युग मे लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशकर भट्ट, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', सेठ गोविन्द दास, डॉ० रामकुमार वर्मा, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश आदि ने इस विधा को विकसित किया है। नाटकों का एक महत्त्वपूर्ण रूप एकांकी है। 'एकाकी' किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना, परिस्थिति या समस्या को आधार वनाकर लिखा जाता है और उसकी समाप्ति एक ही अक में उस घटना के चरम क्षणो को मूर्त करते हुए कर दी जाती है। हिन्दी में एकाकी नाटकों का विकास छायावाद-युग मे माना जाता है। सामान्यत. श्रेष्ठ नाटककारों ने ही श्रेष्ठ एकांकियों की भी रचना की है।

उपन्यास

उपन्यास शब्द का शाब्दिक अर्थ है—सामने रखना। उपन्यास मे 'प्रसादन' अर्थात् प्रसन्न करने का भाव भी निहित है। इस प्रकार किसी घटना को इस प्रकार सामने रखना कि उससे दूसरो को प्रसन्नता हो 'उपन्यस्त' करना कहा जायगा। किन्तु इस अर्थ में 'उपन्यास' का प्रयोग आजकल नहीं होता। हिन्दी मे 'उपन्यास' अंग्रेजी 'नावेल' का पर्याय वन गया है। हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' माना जाता है। प्रेमचन्द जी ने हिन्दी उपन्यास को सामयिक-सामाजिक-जीवन से सम्बद्ध करके एक नया मोड दिया था। वे 'उपन्यास' को मानव-चरित्र का चित्र समझते थे। उनकी दृष्टि में 'मानव' चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।' वस्तुतः उपन्यास गद्य-साहित्य की वह महत्त्वपूर्ण कलात्मक विधा है जो मनुष्य को उसकी समग्रता मे व्यक्त करने मे समर्थ है। प्रेमचन्द के वाद जैनेन्द्र, इलाचद्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेश मेहता, फणीश्वरनाथ 'रेणु', धर्मवीर भारती, राजेन्द्र यादव आदि लेखको ने हिन्दी-उपन्यास साहित्य को समृद्ध किया है।

कहानी

हिन्दी मे मौलिक कहानियो का आरम्भ 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के वाद हुआ। कहानी या आख्यायिका हमारे देश के लिए नयी चीज नही है। पुराणों में शिक्षा, नीति एव हास्य-प्रधान अनेक आख्यायिकाएँ उपलब्ध होती हैं किन्तु आधुनिक साहित्यिक कहानियाँ उद्देश्य और शिल्प मे उनसे भिन्न हैं। आधुनिक कहानी जीवन के किसी मार्मिक तथ्य को नाटकीय प्रभाव के साथ व्यक्त करने वाली अपने में पूर्ण एक कलात्मक गद्य-विधा है जो पाठक को अपनी यथार्थपरकता और मनोवैज्ञानिकता के कारण निश्चित रूप से प्रभावित करती है। हिन्दी कहानी के विकास मे प्रेमचन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रेमचन्दोत्तर या छायावादोत्तर युग मे जैनेन्द्र, 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी, यशपाल, उपेन्द्र नाथ 'अश्क', कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, अमरकान्त, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ 'रेणु', द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, मन्नू भण्डारी, शिवानी, निर्मल वर्मा आदि लेखको ने इस विधा को अधिक कलात्मक और समृद्ध वनाया है।

आलोचना

आलोचना का शाब्दिक अर्थ है किसी वस्तु को भली प्रकार देखना। भली प्रकार

देखने से किसी वस्तु के गुण-दोष प्रकट होते हैं। इसलिए किसी साहित्यिक रचना को भली प्रकार देख कर उसके गुण-दोषो को प्रकट करना उसकी आलोचना करना है। आलोचना के लिए 'समीक्षा' शब्द भी प्रचलित है। इसका भी लगभग यही अर्थ है। हिन्दी मे आलोचना अंग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' शब्द का पर्याय बन गया है। भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र मे सैद्धान्तिक या शास्त्रीय आलोचना का विशेष महत्त्व रहा है। हमारा यह पक्ष अत्यन्त समृद्ध और पुष्ट है। हिन्दी मे आधुनिक पद्धति की आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग मे बालकृष्ण भट्ट और चौधरी प्रेमधन द्वारा लाला श्रीनिवासदास कृत 'सयोगिता स्वयंवर' नाटक की आलोचना से माना जाता है। आगे चलकर द्विवेदी-युग मे प० महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबंधु, बाबू श्यामसुन्दर दास, पद्मसिह शर्मा, लाला भगवानदीन आदि ने इस क्षेत्र मे विशेष कार्य किया। हिन्दी-आलोचना का उत्कर्ष आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना कृतियो के प्रकाशन से मान्य है। आचार्य शुक्ल के बाद बाबू गुलाबराय, प० नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० नगेन्द्र और राम विलास शर्मा ने हिन्दी-आलोचना के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

निबन्ध

हिन्दी मे निबन्ध शब्द अग्रेजी मे 'एसे' शब्द के पर्याय के रूप मे व्यवहृत होता है। 'एसे' शब्द का अर्थ है—प्रयास। अर्थात् किसी विषय के सम्बन्ध मे कुछ कहने का प्रयास ही 'एसे' है। 'प्रयास' होने के कारण 'एसे' या निबध अपने मूलरूप मे प्रौढ रचना नही मानी गयी है। यह शिथिल मन स्थिति मे लिखित अव्यवस्थित और ढीली-ढाली रचना समझी जाती है। व्यवहार में विचार-प्रधान गम्भीर लेखों तथा भाव-प्रधान आत्म-व्यजक रचनाओ, दोनो के लिए निबध शब्द का प्रयोग होता है। निबध को परिभाषित करते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा है—'निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमे एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छन्दता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक सगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।' निबध मुख्यत. चार प्रकार के माने गये हैं :—

१—वर्णनात्मक—इसमे किसी वस्तु को स्थिर रूप मे देखकर उसका वर्णन किया जाता है।

२—विवरणात्मक—इसमे किसी वस्तु को उसके गतिशील रूप मे देखकर उसका वर्णन किया जाता है।

३—विचारात्मक—इसमे विचार और तर्क की प्रधानता होती है।

४—भावात्मक—यह भाव-प्रधान होता है। इसमे आवेगशीलता होती है।

वस्तुतः निवंध-लेखक के व्यक्तित्व के अनुसार निवध-रचना के अनेक प्रकार हो सकते हैं। यह भेद सुविधा की दृष्टि से निवधो को मोटे तौर पर वर्गीकृत करने के लिए किये गये है।

हिन्दी मे निवंध रचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग से ही माना जाता है। भारतेन्दु-युग मे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, वालकृष्ण भट्ट और वालमुकुन्द गुप्त ने अनेक विपयो से सम्वन्धित सुन्दर निवध लिखे थे। उसके वाद महावीरप्रसाद द्विवेदी, वावू श्यामसुन्दर दास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, वावू गलावराय, पदुमलाल पुन्नालाल वख्शी आदि ने इस विधा को विकसित और समृद्ध किया। आचार्य शुक्ल के वाद आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष वेनीपुरी, रामधारीसिंह 'दिनकर', वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० नगेन्द्र, विद्यानिवास मिश्र, कुवेरनाथ राय, आदि लेखकों ने हिन्दी निबध की परम्परा को आगे वढाया है।

गौण या प्रकीर्ण विधाएँ

गौण विधाओं का एक-दूसरे से निकट का सवध है। यह सभी एक प्रकार से निवध-परिवार मे आती हैं। प्रायः सभी का सम्वन्ध लेखक के व्यक्तिगत जीवन और उसके परिवेश से है। लेखक जितने ही अपने देश-काल और परिवेश के प्रति सवेदनशील होगे, गौण कही जाने वाली विधाओ का उतना ही विकास होगा। सम्प्रति हिन्दी-गद्य मे इन विधाओं की रचना प्रचुर परिमाण मे हो रही हैं। इसलिए हिन्दी-गद्य के साम्प्रतिक स्वरूप को समझने के लिए इन विधाओं के विकास का ज्ञान आवश्यक है।

जीवनी

किसी महान् व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक की घटनाओ को काल-क्रम से इस रूप मे प्रस्तुत करना कि उनसे उस व्यक्ति का व्यक्तित्व निखर उठे सफल जीवनी के लिए आवश्यक है। जीवनी-लेखक तटस्थ रहता है। वह अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त नही करता। यों तो हिन्दी मे जीवनी-लेखन का कार्य भारतेन्दु-युग मे ही आरंभ हो गया था किन्तु आदर्श जीवनियाँ वहुत वाद मे लिखी गयी। द्विवेदी-युग मे ऐतिहासिक पुरुपो और धार्मिक नेताओ की जीवनियाँ अधिक लिखी गयी। इस युग के जीवनी-लेखकों मे लक्ष्मीधर वाजपेयी, सम्पूर्णानन्द, नाथूराम प्रेमी, मुकुन्दीलाल

वर्मा उल्लेखनीय है। छायावाद-युग मे राष्ट्रीय महापुरुषो—लाला लाजपतराय, वालगगाधर तिलक, गाँधी, जवाहरलाल नेहरू आदि की जीवनियाँ अधिक लिखी गयी। इस युग के जीवनी-लेखको मे रामनरेश त्रिपाठी, गणेशशकर विद्यार्थी, मन्मथनाथ गुप्त, डॉ० राजेद्रप्रसाद और मुशी प्रेमचन्द उल्लेखनीय है। छायावादोत्तर युग में लोकप्रिय नेताओ, संतों-महात्माओं, विदेशी महापुरुषों, वैज्ञानिको, खिलाड़ियो और साहित्यकारो की जीवनियाँ लिखी गयी। इस युग के जीवनी-लेखको मे काका कालेलकर, जैनेन्द्र कुमार, रामनाथ सुमन, रामवृक्ष वेनीपुरी, वनारसीदास चतुर्वेदी, राहुल साकृत्यायन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इधर अमृतराय, शान्ति जोशी, रामविलास शर्मा और विष्णु प्रभाकर ने क्रमशः 'कलम का सिपाही', 'सुमित्रानन्दन पत जीवन और साहित्य', 'निराला की साहित्य साधना' तथा 'आवारा मसीहा' लिखकर साहित्यकारो की आदर्श जीवनियाँ प्रस्तुत करने की परम्परा का श्री गणेश किया है।

आत्मकथा

जव लेखक अपने जीवन को स्वयं प्रस्तुत करता है तो वह 'आत्मकथा' लिखता है। स्वय अपने को निर्मम भाव से प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। इसलिए आदर्श आत्मकथा लिखना भी कठिन कार्य है। वीती हुई घटनाओ को क्रमवद्ध रूप मे स्मृति के आधार पर प्रस्तुत करना और उसके साथ ही तटस्थ रहकर आत्म-निरीक्षण करना सरल नही है, हिन्दी मे यों तो स्वयं भारतेन्दु ने 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग वीती' लिखकर इस दिशा में प्रयोग आरम्भ किया था किन्तु यह प्रयोग अधूरा रह गया। हिन्दी की आदर्श आत्मकथाएँ छायावाद और छायावादोत्तर युग मे लिखी गयी है। इस क्षेत्र मे वावू श्यामसुन्दर दास कृत 'मेरी आत्म कहानी', वियोगीहरि कृत 'मेरा जीवन प्रवाह', राजेन्द्र वावू कृत 'मेरी आत्मकथा', यशपाल कृत 'सिहावलोकन', पाडेय वेचनशर्मा 'उग्र' कृत 'अपनी खवर', वावू गुलावराय कृत 'मेरी असफलताएँ', वृन्दावनलाल वर्मा कृत 'अपनी कहानी', 'पत' कृत 'साठ वर्ष एक रेखांकन' और लोकप्रिय कवि वच्चन कृत 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ', तथा 'नीड़ का निर्माण फिर' उल्लेखनीय कृतियाँ है।

यात्रावृत्त

जव लेखक अपने जीवन की अविस्मरणीय यात्राओं का विवरण आत्म-कथात्मक शैली मे प्रस्तुत करता है तो वह 'यात्रा-साहित्य' की सृष्टि करता है। आदर्श यात्रावृत्त वह माना जाता है जिसमे यात्रा-क्रम मे आये हुए स्थान और वीती हुई

घटनाएँ लेखक की स्मृति-संवेदना का अग बनकर चित्रवत अकित होती जाती है। यात्रावृत्त आत्मकथा का अश भी हो सकता है और स्वतत्र रूप से भी लिखा जा सकता है। यात्रावृत्त मे 'आत्मकथा', 'संस्मरण' और 'रिपोर्ताज' तीनो के तत्त्व पाये जाते है। हिन्दी मे 'यात्रावृत्त' लिखने का क्रम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है किन्तु कलात्मक यात्रावृत्त छायावाद और छायावादोत्तर युग मे लिखे गये हैं। इस क्षेत्र मे राहुल साकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, 'अज्ञेय', यशपाल, नगेन्द्र, मोहन राकेश, निर्मल वर्मा आदि के द्वारा प्रस्तुत यात्रावृत्त उल्लेखनीय हैं।

गद्यगीत या गद्यकाव्य

गद्यगीत मे भक्ति, प्रेम, करुणा आदि भावनाएँ छोटे-छोटे कल्पना चित्रो के माध्यम से अन्योक्ति या प्रतीक पद्धति पर व्यक्त की जाती है। अनुभूति की सघनता, भावाकूलता, संक्षिप्तता, रहस्यमयता तथा साकेतिकता श्रेष्ठ गद्यगीत की विशेषताएँ हैं। हिन्दी मे गद्यगीतों का आरम्भ बाबू रायकृष्णदास के 'साधना-सग्रह' के प्रकाशन से हुआ। इसके बाद वियोगीहरि का 'तरगिणी' सग्रह प्रकाशित हुआ। ये दोनो कृतियाँ द्विवेदी-युग की सीमा मे आती है। इसके बाद छायावाद-युग मे गद्यगीतो की रचना अधिक हुई। बाबू रायकृष्णदास और वियोगीहरि के अतिरिक्त चतुरसेन शास्त्री, वृन्दावनलाल वर्मा, 'अज्ञेय' और डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी गद्यगीतो के क्षेत्र मे अच्छे प्रयोग किये। छायावादोत्तर-युग मे दिनेशनदिनी डालमिया, डॉ० रघुवीर सिंह, तेज नारायण काक, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि ने सुन्दर गद्यगीतो की रचना की है।

संस्मरण

जब लेखक अपने निकट सम्पर्क मे आने वाले महत्, विशिष्ट, विचित्र, प्रिय और आकर्षक व्यक्तियो, घटनाओं या दृश्यो को स्मृति के सहारे पुन. कल्पना मे मूर्त्त करता है और उसे शब्दाकित करता है तब वह 'संस्मरण' लिखता है। सस्मरण लिखते समय लेखक पूर्णत: तटस्थ नही रह पाता। याद आने वाले का अकन करते हुए वह स्वय भी अकित हो जाता है। सस्मरण लेखक के लिए सवेदनशील, प्रभावग्राही और व्यक्ति या वस्तु के वैशिष्ट्य को लक्षित करने वाला होना चाहिए। हिन्दी मे आदर्श सस्मरण छायावादोत्तर युग मे लिखे गये हैं। इस क्षेत्र में श्रीराम शर्मा, महादेवी वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', देवेन्द्र सत्यार्थी, बनारसीदास चतुर्वेदी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

रेखाचित्र

रेखाचित्र में भी किसी 'व्यक्ति', 'वस्तु' या 'सन्दर्भ' का चित्रांकन किया जाता है। रेखाचित्र मे सांकेतिकता अधिक रहती है। जिस प्रकार रेखा चित्रकार थोडी सी रेखाओं का प्रयोग करके किसी व्यक्ति, वस्तु या सन्दर्भ की मूलभूत विशेषता को उभार देता है उसी प्रकार लेखक कम से कम शब्दों का प्रयोग करके किसी व्यक्ति या वस्तु की मूलभूत विशेषता को उभार देता है। 'रेखाचित्र' में लेखक का पूर्णत. तटस्थ होना आवश्यक है। वस्तुतः संस्मरण और रेखाचित्र एक दूसरे से मिलती-जुलती विधाएँ हैं। 'संस्मरण' में भी चित्र-शैली का ही प्रयोग किया जाता है किन्तु रेखाचित्र मे चित्र अधूरा या खडित भी हो सकता है जबकि संस्मरण में चित्र छोटा या लघु भले ही उसे अपने आप मे पूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया जाता है। संस्मरण अभिधामूलक होता है किन्तु रेखाचित्र सांकेतिक और व्यंजक होता है। वस्तुतः 'रेखाचित्र' संस्मरण का कलात्मक विकास है। हिन्दी में महादेवी वर्मा, प्रकाश चन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी, बनारसीदास चतुर्वेदी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विनय मोहन शर्मा, विष्णु प्रभाकर और डॉ० नगेन्द्र के रेखाचित्र उल्लेखनीय हैं।

रिपोर्ताज

रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्यिक रूप को ही रिपोर्ताज कहते है। रिपोर्ताज में समसामयिक घटनाओं को उनके वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रिपोर्ताज लेखक का घटना से प्रत्यक्ष साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए युद्ध की विभीषिका, अकाल की छाया या पूरे मानव समाज को प्रभावित करने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओ के घटित होने पर पत्रकार और साहित्यकार उस घटना के अनेक सदर्भों की प्रत्यक्ष जानकारी हासिल करते है और उन्हे रिपोर्ताज शैली मे प्रस्तुत करके पाठक के मन को झकझोर देते हैं। हिन्दी मे रिपोर्ताज लिखने का प्रचलन छायावादोत्तर युग मे हुआ है। इस क्षेत्र में रांगेय राघव, बालकृष्ण राव, धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', विष्णुकात शास्त्री आदि लेखको का नाम उल्लेखनीय है।

डायरी

जब लेखक तिथि-विशेष मे घटित घटना-चक्र को यथातथ्य रूप मे अथवा अपनी संक्षिप्त प्रतिक्रिया या टिप्पणी के साथ लिख लेता है तो यह लेखन 'डायरी' विधा के रूप में स्वीकार किया जाता है। डायरी कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियो मे घटित घटनाओं

को लेकर भी लिखी जा सकती है और क्रमबद्ध रूप में रोजनामचा के रूप में भी लिखी जा सकती है उसका आकार कुछ पक्तियों तक ही सीमित हो सकता है और कई पृष्ठो तक विस्तृत भी। वह स्वतत्र रूप से भी लिखी जा सकती है और कहानी, उपन्यास या यात्रावृत्त के अंग के रूप में भी। डायरी मूलत. लेखक की निजी वस्तु है। इसमे उसे अपने निजी विचार, दृष्टि, उद्भावना और प्रतिक्रिया व्यक्त करने की छूट है यह दूसरी बात है कि जिस लेखक का सारा जीवन ही सार्वजनिक हो उसकी डायरी भी सार्वजनिक बातो को लेकर लिखी जाय। कभी-कभी डायरी घटित तथ्य को आधार न बनाकर सभावित और काल्पनिक सत्य को,लेकर भी लिखी जाती है। इसमें शिल्प डायरी का होता है किन्तु तथ्याधार सार्वजनिक होता है। हिन्दी मे डायरी विधा का आरम्भ छायावादी-युग से मान्य है। इस सदर्भ मे धीरेन्द्र वर्मा कृत 'मेरी कालेज डायरी' उल्लेखनीय है। छायावादोत्तर युग मे इलाचन्द्र जोशी, रामधारी सिंह 'दिनकर', शमशेरबहादुर सिंह, मोहन राकेश, आदि की डायरियाँ प्रकाशित हुई है। हिन्दी मे गद्य की इस कलात्मक विधा का अभी पूर्ण विकास नही हुआ है।

भेंट-वार्ता

जब किसी महान् दार्शनिक,राजनीतिज्ञ या साहित्यकार से मिलकर साहित्य, दर्शन या राजनीति के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न किये जाते है और उनसे प्राप्त उत्तरो को व्यवस्थित ढंग से लिपि-बद्ध कर लिया जाता है तो 'भेट-वार्ता' की सृष्टि होती है। भेट-वार्ता वास्तविक भी होती है और काल्पनिक भी। भेट-वार्ता मे नाटकीयता आवश्यक है। यह सामान्यतः प्रश्नोत्तर शैली मे लिखी जाती है। भेट-वार्ताओं में जिस व्यक्ति से भेंट की जाती है उसके स्वभाव, रुचि, कार्य-कुशलता, बुद्धिमत्ता तथा अपनी उत्सुकता, सभ्रमता आदि का उल्लेख करके लेखक भेट-वार्ताओं को अधिक रुचिकर बना सकता है। हिन्दी मे वास्तविक और काल्पनिक दोनो ही प्रकार की भेट-वार्ताएँ लिखी गयी है। वास्तविक भेट-वार्ता लिखने वालो मे पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' और रणवीर राँग्रा के नाम उल्लेखनीय है। काल्पनिक भेट-वार्ता लिखने वालों मे राजेन्द्र यादव (चैखव : एक इण्टरव्यू), और श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन (भगवान महावीर : एक इण्टरव्यू) उल्लेखनीय है। भेट-वार्ताएँ छायावादोत्तर-युग मे ही लिखी गयी है। अभी हिन्दी मे इस विधा के विकास की पूरी सभावना है।

पत्र-साहित्य

जव लेखक अपने किसी मित्र, परिचित या अल्प परिचित व्यक्ति को अपने सम्बन्ध मे या किसी महत्त्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध मे उसकी और अपनी सामाजिक स्थिति को ध्यान मे रखकर उचित आदर, सम्मान या स्नेह का भाव प्रकट करते हुए निजी तौर पर मात्र सूचना, जिज्ञासा या समाधान लिखकर भेजता है और उत्तर की अपेक्षा रखता है तो वह पत्र-साहित्य का सृजन करता है। पत्र नितांत निजी हो सकते है और सार्वजनिक भी। पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशनार्थ भेजे जाने वाले पत्र प्रायः सार्वजनिक प्रश्नों को लेकर लिखे जाते है। साहित्यिक दृष्टि से वे पत्र अधिक महत्त्वपूर्ण होते है जो प्रकाशनार्थ नही लिखे जाते और मात्र दो व्यक्तियों के बीच की वस्तु होते है। हिन्दी-साहित्य मे पत्र-प्रकाशन का आरम्भ द्विवेदी-युग मे ही हो गया था। महात्मा मुशीराम ने स्वामी दयानन्द सम्बन्धी पत्रों का संकलन सन् १९०४ में प्रकाशित कराया था। छायावाद-युग मे रामकृष्ण आश्रम देहरादून से 'विवेकानन्द पत्रावली' का प्रकाशन किया गया। छायावादोत्तर-युग मे पत्र-साहित्य के सकलन और प्रकाशन की दिशा मे कई महत्त्वपूर्ण कार्य हुए है। इस क्षेत्र में बैजनाथ सिंह 'विनोद' द्वारा संकलित 'द्विवेदी पत्रावली' (सन् १९५४), वनारसीदास चतुर्वेदी द्वारा सकलित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' (सन् १९५६), वियोगी हरि द्वारा संकलित 'वड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' (सन् १९६०), जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा संकलित 'निराला के पत्र' (सन् १९७१), हरिवशराय बच्चन द्वारा सकलित 'पन्त के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' (सन् १९७१) उल्लेखनीय पत्र संकलन है।

उपर्युक्त विधाओ के अतिरिक्त सप्रति हिन्दी-गद्य-साहित्य मे 'अभिनन्दन एव स्मृति ग्रथ', 'टिप्पणी लेखन', 'लघु कथा', 'एकालाप' आदि अनेक गद्य-विधाएँ विकसित हो रही है। आज जीवन की संकुलता और मानवीय सम्बन्धों की जटिलता के कारण अनेक छोटी-छोटी गद्य-विधाओ के विकसित होने की सम्भावना बढ़ गयी है। इसके साथ ही गद्य शैली मे विविधता और उसकी अभिव्यक्ति-भगिमा मे अनेकरूपता आयी है। हिन्दी-गद्य यथार्थोन्मुख हुआ है। उसकी शब्द-सम्पदा मे निरन्तर वृद्धि हो रही है। वाक्य-रचना मे लचीलापन आया है। आज वह वाह्य-जगत की विराटता और आन्तरिक जीवन की गहनता, जटिलता और सूक्ष्मता को व्यक्त करने मे समर्थ है। यह हिन्दी-गद्य के सशक्त और समृद्ध होने का लक्षण है। यह शुभ लक्षण है।

अध्ययन-अध्यापन

इण्टरमीडिएट स्तर पर छात्र किशोरावस्था मे पदार्पण कर चुके होते है। किशोर की मानसिक दुनिया वहुरगी होती है। उसमे आदर्शवादिता एव कल्पनाशीलता भी प्रचुर मात्रा मे होती है। अतः प्रस्तुत गद्य-संकलन मे पाठो का चयन करते समय इस वात का ध्यान रखा गया है कि छात्र की मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे विषय-वस्तु सहायक हो। इसमे छात्रो की केवल वर्तमान रुचियो का ही ध्यान नही रखा गया है वरन् उनकी रुचि के परिष्कार का भी लक्ष्य सामने रखा गया है।

प्रस्तुत सकलन मे इस वात का प्रयास किया गया है कि गद्य के ऐतिहासिक विकास, उसकी विभिन्न शैलियो तथा उसकी विविध विधाओ से छात्र परिचित हो जाँय। यह कार्य गहन अध्ययन द्वारा सभव है। अत. इस पुस्तक को द्रुत पठन की पुस्तक की भाँति न पढाकर विशद एवं गहन अध्ययन की पुस्तक की भाँति पढाना है जिसकी प्रत्येक पंक्ति अर्थ-वोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अर्थ-वोध हमारे पढाने का प्रथम मुख्य लक्ष्य होना चाहिए।

अर्थ-वोध छात्रो के पूर्वज्ञान, शब्द-भण्डार एव पढने की गति पर प्राय. आधारित होता है। अर्थ-वोध की योग्यता का विकास करने के लिए कक्षा मे छात्रो को जिन वातो का अभ्यास कराना आवश्यक है उनमे से कुछ निम्नलिखित है :—

१—साराश वताना।

२—अनुच्छेदो का शीर्पक देना।

३—सन्दर्भ द्वारा शव्दो के अर्थ का अनुमान कर लेना।

४—केन्द्रीय भाव ग्रहण कर लेना।

५—पठित सामग्री का मूल्याकन करना।

६—शैली की विविधता को समझना।

७—वाक्यो मे शव्दो के क्रम के महत्त्व को पहचानना।

८—लक्ष्यार्थ एवं व्यग्यार्थ को समझना।

९—सुन्दर वाक्यों को कण्ठस्थ कर लेना।

अर्थ-बोध के अतिरिक्त कक्षा मे पढाने का दूसरा उद्देश्य शब्द-भाण्डार की वृद्धि है। पढ़ाते समय पर्यायवाची, विलोम, अनेकार्थवाची एव समानार्थी शब्दो का ज्ञान कराना आवश्यक है। शब्द-रचना से भी छात्रो को परिचित होना चाहिए। शब्द-भाण्डार की वृद्धि की दृष्टि से कोश का प्रयोग आवश्यक है। इन क्रियाओं का अभ्यास कक्षा में कराना हितकर होगा।

प्रस्तुत संकलन के पाठो को पढ़ाने का तीसरा प्रमुख उद्देश्य पठन-गति का विकास करना है। इस स्तर पर सस्वर पठन की अपेक्षा मौन पठन का अधिक महत्त्व है किन्तु दोनो प्रकार के वाचनों में गति के विकास का ध्यान रखना लाभप्रद होगा। यह गति अभ्यास पर निर्भर है। अत कक्षा मे पठनाभ्यास आवश्यक है।

इण्टरमीडिएट के छात्रों को आलोचनात्मक चिन्तन की ओर भी उन्मुख होना है। अत. छात्रों मे आलोचनात्मक दृष्टिकोण का विकास करना अध्यापक का उद्देश्य होना चाहिए। निबंधो मे आये हुए तथ्यो की तुलना करके उनकी तर्कसगतता देखनी चाहिए। कारण-कार्य सम्बन्धो का विश्लेषण होना चाहिए। छात्रो को इस योग्य होना चाहिए कि वे पाठो को पढ़कर उनकी आलोचना स्वस्थ ढग से कर सके।

आलोचनात्मक चिन्तन के साथ-साथ छात्रों मे रचनात्मक प्रवृत्ति के विकास का भी ध्यान रखना श्रेयस्कर होगा। छात्र यह देखे कि एक ही बात को विभिन्न शैलियो मे किस प्रकार कहा जा सकता है। इस विशेषता को लक्षित करके उन्हें अपने स्वभाव एवं क्षमता के अनुकूल उपयुक्त शैली में भावाभिव्यक्ति का सफल प्रयत्न करना चाहिए तभी वे आगे चलकर स्वय भी साहित्य की श्रीवृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे। पढ़ाते समय अध्यापक को मनोविज्ञान के अधुनातन सिद्धान्तो का उपयोग करना चाहिए। उसे विभिन्न युक्तियो का प्रयोग करते समय यह देखना चाहिए कि वे विभिन्न युक्तियाँ साहित्यिक विधाओ के भी अनुकल हो और छात्रो की मानसिक योग्यता, अभिरुचि एव क्षमता के भी।

निबधो को पढ़ाने में निबध की विषय-वस्तु, प्रस्तुति एव प्रयोजन पर दृष्टि रहनी चाहिए। निबन्धो के विषय अनेक प्रकार के है। इनसे छात्रों का परिचय होना ही है। प्रस्तुतीकरण की शैली भिन्न-भिन्न है। शैली की भिन्नता प्रयोजन तथा विषय की भिन्नता के कारण है। छात्रो का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना है कि लेखक ने अपने आशय या प्रयोजन को व्यक्त करने के लिए किस प्रकार की शैली का चुनाव किया है और इस प्रकार की शैली किस तरह के निबंधों के लिए उपयुक्त होती है।

गद्यकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली मे देखा जा सकता है। व्यग्यकार प्राय. उर्दू शब्दावली अथवा तद्भव शब्दावली का प्रयोग करता है जबकि गभीर विचारो की अभिव्यक्ति करने वाला निवन्धकार प्राय. तत्सम पदावली की ओर उन्मुख हो जाता है। टकसाली शब्दो, मुहावरो एव लोकोक्तियो के प्रयोग की ओर झुकाव कुछ गद्यकारो मे विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। छात्रो को इस योग्य होना है कि वे शब्दो के परे जाकर व्यग्यार्थ की अनुभूति कर सके। सकेतों को अच्छी तरह से समझना और लेखक के आशय को ग्रहण करना कठिन होता है और इसी कठिनाई पर विजय पाने के लिए कक्षा मे पठन-पाठन की योजना वनायी जाती है। अच्छा हो कि छात्रो के पूर्वज्ञान का अनुमान करके अध्यापक पाठ्य-सामग्री के प्रमुख पाठ्य-विन्दुओ को पहले से ही नियोजित कर ले जिससे कि समय और श्रम का अपव्यय न हो।

गद्य-शिक्षण के समय अध्यापक को पाठ्य-विन्दुओ का निश्चय पहले से ही कर लेना चाहिए। किन तथ्यो पर अधिक वल देना है और कौन-से स्थल अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन वाक्यो की व्याख्या करनी है, किन सन्दर्भो को देना है, इसका निश्चय प्रत्येक पाठ के शिक्षण के पूर्व ही कर लेना चाहिए। कक्षा मे शिक्षण का आरम्भ चाहे जिस विधि से किया जाय किन्तु इस वात का ध्यान रहे कि छात्र प्रारम्भ मे ही लेखक से कुछ परिचित हो जॉय और नवीन विषयवस्तु को ग्रहण करने की मानसिक स्थिति मे वे आ जाँय। अनुभवो एव पूर्व अर्जित ज्ञान का भरपूर उपयोग किया जाय।

गद्य-शिक्षण मे प्रत्येक पाठ के शिक्षण की विधि एक ही यान्त्रिक ढग से नही होनी चाहिए। जिस विधि से समीक्षात्मक पाठ पढाया जायगा उसी विधि से भावात्मक निवन्ध नही पढाया जा सकता। रेखाचित्र, सस्मरण एवं रिपोर्ताज के पढाने का ढंग अलग होगा। किसी निबन्ध को पढाने मे तथ्यो एवं घटनाओ की ओर छात्रो का ध्यान आकृष्ट किया जायगा तो किसी अन्य मे मनोभावो एव शैलीगत विशेषताओं को प्रमुखता दी जायगी। पाठ को पढाने मे मौन पाठ का सर्वाधिक महत्त्व होगा तो किसी अन्य मे सस्वर पठन का भी उपयोग किया जा सकता है। फिर भी, इण्टर के स्तर पर मौन पठन को अधिक महत्त्व मिलेगा ही।

वाद-विवाद प्रतियोगिता मे भाग लेने के अवसर पर, विद्यालयीय पत्रिका हेतु लेख लिखने अथवा किसी आयोजन पर भाषण देने के अवसर पर किसी गद्यकार की शैली के अनुकरण के लिए छात्रो को प्रेरित किया जा सकता है।

निवन्ध पाठो के अध्ययन-अध्यापन के समय केवल परीक्षा को ही दृष्टि में रखना गद्य-शिक्षण का उद्देश्य नही है। परीक्षा को गौण समझा जाना चाहिए और निवन्धो की विशेषताओं से परिचय प्राप्त करके अपनी शैली मे परिमार्जन करने को प्रमुखता दी जानी चाहिए।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (सन् १८५०-१८८५)

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द की वंश-परम्परा मे आते हैं। इनका जन्म काशी मे सन् १८५० मे और मृत्यु सन् १८८५ मे हुई। भारतेन्दु प्रतिभासम्पन्न और अत्यन्त संवेदनशील व्यक्ति थे। ३५ वर्ष के अल्प जीवन-काल में इन्होने हिन्दी-साहित्य की जो समृद्धि की वह सामान्य व्यक्ति के लिए असभव हैं। ये कवि, नाटककार, निबंध-लेखक, संपादक, समाज-सुधारक सभी कुछ थे। हिन्दी-गद्य के तो ये जन्मदाता समझे जाते हैं। इन्होने सन् १८६८ में 'कवि वचन सुधा' और सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का सपादन किया था। ८ अको के बाद 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' का नाम 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' हो गया। हिन्दी-गद्य को 'नई चाल में ढालने का श्रेय' 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' को ही है। नाटको के क्षेत्र मे इनकी देन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होने मौलिक और अनूदित सब मिलाकर सत्रह नाटको की रचना की है, जिनकी सूची इस प्रकार है—

१. विद्या सुन्दर, २. रत्नावली, ३. पाखण्ड विडम्बन, ४. धनंजय विजय, ५ कर्पूर मंजरी, ६. मुद्राराक्षस, ७. भारत जननी, ८. दुर्लभ बंधु, ९. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, १०. सत्य हरिश्चन्द्र, ११. श्रीचंद्रावली, १२. विषस्य विषमौषधम्, १३. भारत दुर्दशा, १४. नीलदेवी, १५ अंधेर नगरी, १६. सती प्रताप १७. प्रेम जोगिनी।

नाटको की ही भाँति इनके निवध भी महत्त्वपूर्ण हैं। इन निवधो के अध्ययन से इनकी विचारधारा का पूरा परिचय मिल जाता है। ये निवध तत्कालीन सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति के भी परिचायक हैं। भारतेन्दु ने इतिहास, पुराण, धर्म, भाषा, सगीत आदि अनेक विषयो पर निबध लिखे है। इन्होने जीवनियाँ और यात्रा-वृत्तान्त भी लिखे हैं। तत्कालीन सामाजिक रूढियो को दृष्टि मे रखकर इन्होने हास्य और व्यग्य लेख भी लिखे है। यही नही इन्होने काल्पनिक कथा का आधार लेकर स्वामी दयानद सरस्वती और केशवचन्द्र सेन के विचारों की उपयोगिता-अनुपयोगिता के सम्वन्ध मे अपना मत भी प्रकट किया है।

शैली की दृष्टि से भारतेन्दु ने वर्णनात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक और भावात्मक सभी शैलियो मे निबंध-रचना की है। इनके द्वारा लिखित 'दिल्ली दरवार दर्पण' इनकी वर्णनात्मक शैली का श्रेष्ठ निदर्शक है। इनके यात्रा-वृत्तान्त (सरयूपार की यात्रा, लखनऊ की यात्रा आदि) विवरणात्मक शैली मे लिखे गये है। 'वैष्णवता और भारतवर्ष' तथा 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' जैसे निबध विचारात्मक है। भारतेन्दु की भावात्मक शैली का रूप इनके द्वारा लिखित जीवनियो (सूरदास, जयदेव, महात्मा मुहम्मद आदि) तथा ऐतिहासिक निवधों मे बीच-बीच में मिलता है। इसके अतिरिक्त इनके निबंधों मे शोध-शैली, भाषण-शैली, स्तोत्र-शैली, प्रदर्शन-शैली, कथा-शैली, आदि के रूप भी मिलते है। वस्तुत. भारतेन्दु का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे जब जो कहना चाहते थे उसके अनुरूप शैली और भाषा स्वयं ढल जाती थी।

भारतेन्दु का महत्त्व एक सुलझे हुए मध्यममार्गी विचारक के रूप मे भी है। भाषा, साहित्य, समाज, देश, धर्म, जाति की उन्नति के लिए इन्होने जो सुझाव दिये है वे आज भी उपयोगी है। इनकी भाषा व्यावहारिक, बोलचाल के निकट, प्रवाहमयी और जीवत है। विषय के अनुसार उसका रूप वदल गया है किन्तु जिसे स्वयं भारतेन्दु ने 'शुद्ध हिन्दी' कहा है वह साफ-सुथरी छोटे-छोटे वाक्यो से युक्त सहज और सर्वग्राह्य भाषा है।

भारतेन्दु अपने युग की सम्पूर्ण चेतना के केन्द्र-बिन्दु थे। वे प्राचीनता के पोपक भी थे और नवीनता के उन्नायक भी। वर्तमान के व्याख्याता भी थे और भविष्य के द्रष्टा भी। उन्नीसवी शती के अतिम चरण मे हिन्दी-साहित्य को सही दिशा की ओर अग्रसर करने के लिए जिस समन्वयशील प्रतिभा की आवश्यकता थी, भारतेन्दु के रूप में वह हिन्दी को प्राप्त हुई थी।

प्रस्तुत निबध दिसम्बर सन् १८८४ मे वलिया के ददरी मेले के अवसर पर आर्य देशोपकारिणी सभा मे भाषण देने के लिए लिखा गया था। इसमे लेखक ने कुरीतियों और अधविश्वासों को त्याग कर अच्छी से अच्छी तालीम प्राप्त करने, उद्योग-धंधों को विकसित करने, सहयोग एव एकता पर वल देने तथा सभी क्षेत्रो मे आत्मनिर्भर होने की प्रेरणा दी है। देश की उन्नति के लिए ये बातें आज भी महत्त्व रखती है। इससे भारतेन्दु की दूरदर्शिता प्रकट होती है।

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है ?

आज वड़े आनन्द का दिन है कि छोटे से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को एक बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देस में जो कुछ हो जाय वही वहुत है। हमारे हिन्दुस्तानी लोग तो रेल की गाडी है। यद्यपि फर्स्ट क्लास सेकेण्ड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी अच्छी और बड़े बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी है पर विना इंजिन सब नहीं चल सकतीं वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए "का चुप साधि रहा बलवाना" फिर देखिये हनुमान जी को अपना बल कैसा याद आता है। सो बल कौन याद दिलावै। या हिन्दोस्तानी राजे महराजे नवाब रईस या हाकिम। राजे महराजों को अपनी पूजा भोजन झूठी गप से छुट्टी नही। हाकिमों को कुछ तो सर्कारी काम घेरे रहता है कुछ बाल घुड़दौड़ थियेटर में समय गया। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या गरज है कि हम गरीब गन्दे काले आदमियों से मिलकर अपना अनमोल समय खोवैं। बस वही मसल वही। "तुम्हें गैरों से कव फुरसत हम अपने गम से कब खाली। चलो बस हो चुका मिलना न हम खाली न तुम खाली ॥"

पहले भी जब आर्य लोग हिन्दुस्तान में आकर बसे थे राजा और ब्राह्मणों के जिम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावैं और अब भी ये लोग चाहैं तो हिन्दुस्तान प्रतिदिन क्या प्रतिछिन बढै। पर इन्हीं लोगों को निकम्मेपन ने घेर रखा है।

हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय मे

जव कि इनके पुरुषों के पास कोई भी सामान नही था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठ करके वाँस की नालियों से जो ताराग्रह आदि बेध करके उनकी गति लिखी है वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपये के लागत की विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को बेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल मे हम लोगों को अंगरेजी विद्या के और जनता की उन्नति से लाखों पुस्तकें और हजारों यंत्र तैयार है तब हम लोग निरी चुंगी के कतवार फेकने की गाड़ी वन रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन अंगरेज फरासीस आदि तुरकी ताजी सव सरपट्ट दौड़े जाते है। सब के जी में यही है कि पाला हमी पहले छू ले। उस समय हिन्दू काठियावाड़ी खाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते है। इनको औरों को जाने दीजिए जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नही आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जायगा फिर कोटि उपाय किये भी आगे न बढ़ सकैगा। इस लूट मे इस बरसात मे भी जिसके सिर पर कम्बख्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहै उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर कुछ कहो कि हिन्दुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है। भला इस विषय पर मै और क्या कहूँ ? भागवत में एक श्लोक है "नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारं मयाऽनुकूलेन नभ.स्वतेरितं पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा।" भगवान कहते है कि पहले तो मनुष्य जन्म ही वड़ा दुर्लभ है सो मिला और उस पर गुरु की कृपा और उस पर मेरी अनुकूलता इतना सामान पाकर भी जो मनुष्य इस संसार सागर के पार न जाय उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए वही दशा इस समय हिन्दुस्तान की है।

वहुत लोग यह कहैगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही

नहीं रहती है वावा हम क्या उन्नति करें। तुम्हारा पेट भरा है तुमको दून की सूझती है। यह कहना उनकी वहुत भूल है। इंगलैण्ड का पेट भी कभी यों ही खाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ किया। क्या इंगलैण्ड मे किसान खेतवाले गाड़ीवान मजदूर कोचवान आदि नही है ? किसी देस मे भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किन्तु वे लोग जहाँ खेत जोते वोते है वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी कौन नई कल या मसाला वनावें जिसमें इस खेत मे आगे से दून अन्न उपजे। विलायत मे गाड़ी के कोचवान भी अखवार पढ़ते है। जव मालिक उतर कर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अखवार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पियेगा वा गप्प करैगा। सो गप्प भी निकम्मी। "वहाँ के लोग गप्प में ही देश के प्रबन्ध छाँटते हैं।" सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाय। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही वह वड़ा अमीर समझा जाता है आलस यहाँ इतनी वढ गई है कि मलूकदास ने दोहा ही वना डाला—"अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गये सव के दाता राम ॥" चारों ओर आँख उठाकर देखिये तो विना काम करने वालों की ही चारों ओर वढ़ती है रोजगार कही कुछ भी नही। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है। किसी ने वहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुम्बी इस तरह अपनी इज्जत को बचाता फिरता है जैसे लाजवती वहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाये जाती है। वही दशा हिन्दुस्तान की है। मर्दुमशुमारी का रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन-दिन यहाँ वढ़ते जाते है और रुपया दिन-दिन कमती होता जाता है। सो अब बिना ऐसा उपाय किये काम नही चलैगा कि रुपया भी वढै। और वह रुपया विना बुद्धि वढ़े न वढ़ैगा। भाइयो राजा महाराजों का मुँह मत देखो मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में ऐसा उपाय

वतलावैंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़ै। तुम आप ही कमर कसो आलस छोड़ो कब तक अपने को जंगलीहूस मूर्ख बोदे डरपोक ने पुकरवाओगे। दौड़ो इस घुड़दौड़ में जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नही। "फिर कब राम ज़नक पुर ऐहैं" अबकी पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे।

अब भी तुम लोग अपने को न सुधारो तो तुम्ही रहो। और वह सुधारना भी ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम मे, वाहर के काम में, रोजगार मे, शिष्टाचार में, चालचलन में, शरीर में, वल में, समाज में, युवा में, वृद्ध मे, स्त्री में, पुरुष में, अमीर मे, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था सब जाति, सब देस मे उन्नति करो। सब ऐसी वातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों। चाहे तुम्हे लोग निकम्मा कहै या नंगा कहै, कृस्तान कहै या भ्रष्ट कहैं तुम केवल अपने देश की दीन दशा को देखो और उनकी बात मत सुनो। "अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः स्वकार्यं साधयेत् धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।" जो लोग अपने को देश हितैषी लगाते हों वह अपने सुख को होम करके अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कसके उठो। देखादेखी थोड़े दिन में सब हो जायगा। अपनी खरावियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देस की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे है। उन चोरों को वहाँ वहाँ से पकड़ कर लाओ। उनको बाँध बाँध कर कैद करो। इस समय जो जो बातें तुम्हारी उन्नति पथ की काँटा हों उनकी जड खोदकर फेक दो।

अव यह प्रश्न होगा कि भाई हम तो जानते ही नही कि उन्नति और सुधारना किस चिड़िया का नाम है? किसको अच्छा समझें? क्या लें क्या छोड़ें? तो कुछ बातें जो इस शीघ्रता से मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ सुनो—

सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इमसे सब के पहले धर्म की ही

उन्नति करनी उचित है। देखो अंगरेजों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली हैं इससे उनकी दिन दिन कैसी उन्नति है। उनको जाने दो, अपने ही यहाँ देखो। तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति समाज-गठन वैद्यक आदि भरे हुए है। दो एक मिसाल सुनो। यही तुम्हारा वलिया का मेला और यहाँ स्थान क्यौ बनाया गया है। जिसमे जो लोग कभी आपस मे नही मिलते दस-दस पाँच-पॉच कोस से वे लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलै। एक दूसरे का दुख सुख जानै। गृहस्थी के काम की वह चीजें जो गाँव में नही मिलती यहाँ से ले जाँय। एकादशी का व्रत क्यौ रखा है? जिसमें महीने में दो एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाय। गंगा जी नहाने जाते है तो पहिले पानी सिर पर चढाकर तव पैर पर डालने का विधान क्यौ है? जिसमे तलुए से गरमी सिर मे चढ़कर विकार न उत्पन्न करै। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर मे एक वेर तो सफाई हो जाय। होली इसी हेतु है कि वसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि बलने से स्वच्छ हो जाय। यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है। ऐसे सब पर्व सव तीर्थ व्रत आदि मे कोई हिकमत है। उन लोगों ने धर्म नीति और समाजनीति को दूध पानी की भाँति मिला दिया है। खराबी जो बीच मे भई है वह यह है कि उन लोगों ने ये धर्म क्यौ मानने लिखे थे इसका लोगों ने मतलब नही समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयो वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन है।

ये सव तो समाज धर्म हैं। जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते है। दूसरी खराबी यह हुई है कि उन्ही महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप दादों का मतलव न समझ कर वहुत से नये-नये धर्म बनाकर शास्त्रों मे धर दिये। बस सभी तिथि व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गये। सो इन बातों को अब एक बेर ऑख खोलकर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन

वुद्धिमान ऋषियों ने क्यौ वनाई और उनमें जो देश और काल के अनुकूल और उपकारी हों उनका ग्रहण कीजिये। वहुत सी बातैं जो समाज विरुद्ध मानी जाती हैं किन्तु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है उनको चलाइए। जैसा जहाज का सफर विधवा विवाह आदि। लड़कों को छोटेपन मे ही व्याह करके उनका बल, बीरज, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ वाप हैं या शत्रु है। वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए। नोन तेल लकड़ी की फिक्र करने की वुद्धि सीख लेने दीजिए। तव उनका पैर काठ मे डालिए। कुलीन प्रथा बहुविवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइये किन्तु इस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती हैं जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुल धर्म सीखैं पति की भक्ति करैं और लड़कों को सहज मे शिक्षा दें। नाना प्रकार के मत के लोग आपस में बैर छोड़ दें यह समय इन झगड़ों का नही, हिन्दू, जैन, मुसलमान सव आपस मे मिलिए जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा हो सव का आदर कीजिए जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सव लोग आपस मे मिलिए।

अपने लड़कों को अच्छी से अच्छी तालीम दो। पिनशिन और वजीफा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोजगार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मिहनत करने की आदत दिलाओ। वंगाली, मरट्टा, पंजावी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमान सव एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिसमें तुम्हारे यहाँ वढ़ै तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश मे रहै वह करो। देखो जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंगलैण्ड, फरासीस, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीआसलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वही से आती है। जरा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की वनी है। जिस

लंकलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंगलैण्ड का है। फरासीस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो। और जरमनी की बनी चरवी की वत्ती तुम्हारे सामने वल रही है। यह तो वही मसल हुई एक बेफिकरे मंगनी का कपड़ा पहन कर किसी महफिल मे गए। कपड़े को पहिचान कर एक ने कहा अजी अंगा तो फलाने का है दूसरा बोला अजी टोपी भी फलाने की है तो उन्होंने हँसकर जवाव दिया कि घर की तो मूछैं ही मूछैं हैं। हाय, अफसोस, तुम ऐसे हो गये कि अपने निज की काम की वस्तु भी नही बना सकते। भाइयो अव तो नीद से चौंकों अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताव पढो वैसे ही खेल खेलो वैसी ही बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो अपने देश मे अपनी भाषा में उन्नति करो।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतवर्ष की उन्नति के लिए क्या सुझाव दिये है ? सक्षेप में अपने शब्दों मे लिखिए।
२. भारतेन्दु की दृष्टि मे इगलैण्ड की उन्नति का मूल कारण क्या है ? सक्षेप मे लिखिए।
३. निम्नलिखित वाक्यों की व्याख्या कीजिए :
   (क) 'इस बरसात····चाहिए।'
   (ख) 'उसने एक हाथ से····काँटो को साफ किया।'
४. प्रस्तुत निवध की भाषा खडीवोली से किन-किन रूपो मे भिन्न है ?
५. लेखक का हिन्दुस्तानियो को रेल की गाड़ी कहने का क्या आशय है ?
६. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाषा-शैली पर एक निवन्ध लिखिए।
७. निम्नलिखित वाक्यो का आशय स्पष्ट कीजिए :
   (क) 'यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है।'
   (ख) 'उस समय हिन्दू काठियावाडी खाली खड़े-खडे टाप से मिट्टी खोदते है।'
   (ग) 'जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देख करके भी लाज नही आती।'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी (सन् १८६४-१९३८)

इनका जन्म रायबरेली के दौलतपुर ग्राम मे हुआ था। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर इन्होने जी० आई० पी० रेलवे मे नौकरी कर ली। घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, मराठी, अंग्रेजी और बगला का अध्ययन किया। सन् १९०३ मे रेलवे की नौकरी छोडकर 'सरस्वती' के संपादक बने। हिन्दी को सँवारने-सुधारने में इन्होंने स्तुत्य प्रयास किया। इनके पूर्व हिन्दी-गद्य बहुत ही अव्यवस्थित स्थिति में था। इनके प्रयास से उसमें परिष्कार और परिमार्जन आया। इनके पूर्व स्थिति यह थी कि हिन्दी के नाम पर जो जैसा चाहता था वैसा लिखता था। टीका-टिप्पणी करके सही मार्ग का निर्देशन देने वाला कोई न था। इन्होने इस अभाव को दूर किया तथा भाषा के स्वरूप-संगठन, वाक्य-विन्यास, विराम चिह्नों के प्रयोग तथा व्याकरण की शुद्धता पर विशेप बल दिया। लेखकों की अशुद्धियो को रेखांकित किया। स्वय लिखकर तथा दूसरो से लिखवाकर इन्होने हिन्दी-गद्य को पुष्ट और परिमार्जित किया। हिन्दी-गद्य के विकास मे इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इन्होंने 'सरस्वती' मे न केवल अपनी कविताएँ, निबन्ध तथा आलोचनाएँ लिखकर प्रकाशित करायी वल्कि दूसरो को भी इन विधाओ मे लिखने को निरतर प्रेरित करते रहे। इस तरह 'सरस्वती' के माध्यम से इन्होने वहुतो को लेखक वनाया और हिन्दी-गद्य को सही दिशा दी।

इनके मौलिक ग्रथो मे १. अद्भुत आलाप, २ विचार-विमर्श, ३. रसज्ञ-रंजन, ४ संकलन, ५. साहित्य-सीकर, ६. कालिदास की निरंकुशता, ७ कालिदास और उनकी कविता, ८. हिन्दी भाषा की उत्पत्ति, ९ अतीत-स्मृति, १० वाग्विलास आदि महत्त्वपूर्ण हैं। ये उच्चकोटि के अनुवादक भी थे। इन्होंने सस्कृत और अंग्रेजी दोनो भाषाओ से अनुवाद किया है। संस्कृत के अनूदित ग्रथो मे १. रघुवंश, २. हिन्दी महाभारत, ३. कुमार-संभव, ४. किरातार्जुनीय तथा अंग्रेजी के अनूदित ग्रंथो में ५ वेकन विचार-माला, ६ शिक्षा, ७ स्वाधीनता आदि उल्लेखनीय हैं।

ये भापा के आचार्य थे। इनकी भाषा अत्यन्त परिष्कृत, परिमार्जित, एव व्याकरण-सम्मत है। उसमे पर्याप्त गति तथा प्रवाह है। इन्होने हिन्दी के शब्द-भाण्डार की श्रीवृद्धि मे अप्रतिम सहयोग दिया है। इनकी शैली व्यास-शैली है। इन्होने अपने निवन्धो मे परिचयात्मक शैली, आलोचनात्मक शैली, गवेषणात्मक शैली तथा आत्म-कथात्मक शैली का प्रयोग किया है। कठिन से कठिन विपय को वोधगम्य रूप मे प्रस्तुत करना इनकी शैली की सवसे बड़ी विशेपता है। शब्दो के प्रयोग मे इनको रूढिवादी नही कहा जा सकता क्योकि आवश्यकतानुसार तत्सम शब्दो के अतिरिक्त अरवी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्दों का भी इन्होने व्यवहार किया हे। आचार्य द्विवेदी सच्चे अर्थ मे गद्य के युग-निर्माता हैं। यह उनकी ही निप्ठा, लगन, सूझ और परिश्रम का परिणाम है कि आज हिन्दी-गद्य इतना उन्नत और समृद्ध है।

भापा-परिष्कार के अतिरिक्त इन्होने हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति का भी विकास किया और उसमे सुगम तथा गूढ सभी प्रकार के विपयों से सम्बन्धित विचारों को व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न की। प्राचीन साहित्य एव संस्कृति से लेकर आधुनिक समाज एव साहित्य तक के अनेकानेक विपयो का समावेश इन्होने हिन्दी साहित्य मे किया। इस प्रकार हिन्दी-गद्य मे सर्वांगीणता आ गयी और वह निबन्ध, कहानी, उपन्यास आदि अनेक प्रकार की विधाओ को जन्म देने मे समर्थ हुआ।

हिन्दी मे समालोचना के सूत्रधार भी ये ही माने जाते हैं। इन्होने इस ओर ध्यान आकर्पित किया कि किस प्रकार विदेशी विद्वानों ने भारतीय साहित्य का अध्ययन एव मनन किया हे। उन्ही के समान प्राचीन भारतीय साहित्य की विशेपताओ का प्रकाशन इन्होंने अपने लेखों मे किया है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की आलोचना से आरम्भ करके हिन्दी साहित्य की आलोचना की ओर आने का मार्ग इन्होने ही प्रशस्त किया। इनकी आलोचना शैली सरल, सुगम और व्यावहारिक है। प्रस्तुत लेख उसी शैली का एक उत्तम उदाहरण है।

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन—संस्कृत साहित्य मे प्रकृति वर्णन पर्याप्त समृद्ध है। इसे समृद्ध वनाने मे महाकवि माघ का अद्वितीय स्थान है। प्रस्तुत निबध में महाकवि माघ के प्रभात-वर्णन संबंधी हृदयस्पर्शी स्थलों को निबंधकार ने हमारे सामने रखा है। उसने बहुत ही कलात्मक ढंग से यह दिखलाया है कि किस तरह सूर्य और चन्द्रमा, नक्षत्र एव दिग्वधुएँ अपनी-अपनी क्रीड़ाओ मे तल्लीन हैं। मानवी-

करण के सहारे उनकी क्रीड़ाओं को मूर्त्तिमान करने मे महाकवि माघ को आशातीत सफलता मिली है। सूर्य की रश्मियाँ अन्धकार को नष्ट कर जीवन और जगत् को प्रकाश से परिपूर्ण कर देती हैं। रसिक चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से रजनीगंधा को प्रमुदित कर देता है। सूर्य और चन्द्रमा समय-समय पर दिग्वधुओं से कैसे प्रणय-निवेदन करते हुए एक-दूसरे के प्रति प्रतिद्वन्द्विता के भाव से भर उठते है, कैसे प्रवासी सूर्य का स्थान चन्द्रमा लेकर दिग्वधुओं से हास-परिहास करते हुए सूर्य के कोप का भाजन वन उसके द्वारा परास्त किया जाता है—इन सबका वड़ा मनोहारी चित्रण इस निवंध में किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के उत्थान और पतन को देखकर मनुष्यमात्र को जीवन की परिवर्तनशीलता के प्रति आश्चर्य नही होता। इस शाश्वत नियम के प्रति उसका विश्वास दृढ़ होता है। इस तरह प्रभातकालीन सौन्दर्य की विविध रेखाओं को अंकित करते हुए अत्यन्त प्रभावोत्पादक एव सरस ढग से निवन्धकार ने मनुष्यमात्र को प्रकृति से वहुत कुछ सीखने की सभावना पर बल दिया है।

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

रात अब बहुत ही थोड़ी रह गयी है। सुबह होने में कुछ ही कसर है। जरा सप्तर्षि नाम के तारों को तो देखिए। वे आसमान मे लबे पड़े हुए है। उनका पिछला भाग तो नीचे को झुका-सा है और अगला ऊपर को। वही, उनके अधोभाग में, छोटा सा ध्रुवतारा कुछ-कुछ चमक रहा है। सप्तर्षियों का आकार गाड़ी के सदृश है---ऐसी गाड़ी के सदृश जिसका जुवाँ ऊपर को उठ गया हो; इसी से उनके और ध्रुवतारा के दृश्य को देखकर श्रीकृष्ण के बालपन की एक घटना याद आ जाती है। शिशु श्रीकृष्ण को मारने के लिए एक बार गाडी का रूप बनाकर शकटासुर नाम का एक दानव उनके पास आया। श्रीकृष्ण ने पालने मे पड़े-ही-पड़े, खेलते-खेलते, उसे एक लात मार दी। उसके आघात से उसका अग्रभाग ऊपर को उठ गया, और पश्चाद्भाग खड़ा ही रह गया। श्रीकृष्ण उसके तले आ गये। वही दृश्य इस समय सप्तर्षियों की अवस्थिति का है। वे तो कुछ उठे हुए-से लंबे पड़े है, छोटा-सा ध्रुव उनके नीचे चमक रहा है।

पूर्व-दिशारूपिणी स्त्री की प्रभा इस समय बहुत ही भली मालूम होती है। वह हँस-सी रही है। वह यह सोचती-सी है कि इस चन्द्रमा ने जब तक मेरा साथ दिया---जब तक यह मेरी संगति में रहा---तब तक उदित ही नही रहा, इसकी दीप्ति भी खूब बढ़ी। परन्तु, देखो, वही अब पश्चिम-दिशारूपिणी स्त्री की तरफ जाते ही (हीन-दीप्ति होकर) पतित हो रहा है। इसी से पूर्व दिशा, चन्द्रमा को देख-देख प्रभा के बहाने, ईर्ष्या से मुसका-सी रही है। परन्तु चन्द्रमा को उसके

हँसी-मजाक की कुछ भी परवाह नहीं। वह अपने ही रग मे मस्त मालूम होता है। अस्त समय होने के कारण उसका बिब तो लाल है; पर किरणे उसकी पुराने कमल की नाल के कटे हुए टुकड़ों के समान सफेद है। स्वयं सफेद होकर भी, बिब के अरुणता के कारण, वे कुछ-कुछ लाल भी है। कुंकुम-मिश्रित सफेद चन्दन के सदृश उन्हीं लालिमा मिली हुई सफेद किरण से चन्द्रमा पश्चिम दिग्वधू का श्रृंगार-सा कर रहा है—उसे प्रसन्न करने के लिए उसके मुख पर चन्दन का लेप-सा समा रहा है। पूर्व दिग्वधू के द्वारा किये गये उपहास की तरफ़ उसका ध्यान ही नही।

जब कमल शोभित होते हैं, तब कुमुद नही, और जब कुमुद शोभित होते है तब कमल नहीं। दोनों की दशा बहुधा एक सी नही रहती। परन्तु, इस समय, प्रातःकाल, दोनों मे तुल्यता देखी जाती है। कुमुद बन्द होने को है; पर अभी पूरे बन्द नही हुए। उधर कमल खिलने को है, पर अभी पूरे खिले नही। एक की शोभा आधी ही रह गयी है, और दूसरे को आधी ही प्राप्त हुई है। रहे भ्रमर, सो अभी दोनो ही पर मॅडरा रहे है और गुजा-रव के बहाने दोनों ही के प्रशंसा के गीत-से गा रहे है। इसी से, इस समय कुमुद और कमल, दोनों ही समता को प्राप्त हो रहे है।

सायंकाल जिस समय चन्द्रमा का उदय हुआ था, उस समय वह बहुत ही लावण्यमय था। क्रम-क्रम से उसकी दीप्ति—उसकी सुन्दरता—और भी बढ़ गयी। वह ठहरा रसिक। उसने सोचा, यह इतनी बड़ी रात यों ही कैसे कटेगी; लाओ खिली हुई नवीन कुमुदिनियो (कोकावेलियो) के साथ हॅसी-मजाक ही करे। अतएव वह उनकी शोभा के साथ हास-परिहास करके उनका विकास करने लगा। इस तरह खेलते-कूदते सारी रात बीत गयी। वह थक भी गया, शरीर पीला पड़ गया; कर (किरण-जाल) स्रस्त अर्थात् शिथिल हो गये। इससे वह दूसरी दिगंगना (पश्चिम दिशा) की गोद मे जा गिरा।

यह शायद उसने इसलिए किया कि रात-भर के जगे हैं; लाओ, अब उसकी गोद में आराम से सो जाँय।

अंधकार के विकट वैरी महाराज अंशुमाली अभी तक दिखायी भी नहीं दिये। तथापि उसके सारथि अरुण ही ने, उनके अवतीर्ण होने के पहले ही, थोड़े ही नहीं, समस्त तिमिर का समूल नाश कर दिया। बात यह है कि जो प्रतापी पुरुष अपने तेज से अपने शत्रुओं का पराभव करने की शक्ति रखते हैं, उनके अग्रगामी सेवक भी कम पराक्रमी नहीं होते। स्वामी को श्रम न देकर वे खुद ही उसके विपक्षियों का उच्छेद कर डालते हैं। इस तरह, अरुण के द्वारा अखिल अन्धकार का तिरोभाव होते ही बेचारी रात पर आफ़त आ गयी। इस दशा में वह कैसे ठहर सकती थी। निरुपाय होकर वह भाग चली। रह गयी दिन और रात की संधि, अर्थात् प्रातःकालीन संध्या। सो अरुण कमलों ही को आप इस अल्पवयस्क सुता-सदृश संध्या के लाल-लाल और अतिशय कोमल हाथ-पैर समझिए। मधुप-मालाओं से छाये हुए नील कमलों ही को काजल लगी हुई उसकी आँखे जानिए। पक्षियों के कल-कल शब्द ही को उसकी तोतली बोली अनुमान कीजिए। ऐसी संध्या ने जब देखा कि रात इस लोक से जा रही, तब पक्षियों के कोलाहल के बहाने यह कहती हुई कि "अम्मा, मैं भी आती हूँ", वह भी उसी के पीछे दौड़ गयी।

अंधकार गया, रात गयी, प्रातःकालीन संध्या भी गयी। विपक्षिदल के एकदम ही पैर उखड़ गये। तब, रास्ता साफ देख, वासर-विधाता भगवान भास्कर ने निकल आने की तैयारी की। कुलिश-पाणि इन्द्र की पूर्व दिशा में, नये सोने के समान, उनकी पीली-पीली किरणों का समूह छा गया। उनके इस प्रकार आविर्भाव से एक अजीब ही दृश्य दिखायी दिया। आपने वड़वानल का नाम तो सुना ही होगा। वह एक प्रकार की आग है, जो समुद्र के जल को जलाया करती है। सूर्य के उस लाल-पीले किरण समूह को देखकर ऐसा मालूम होने लगा

जैसे वही बड़वाग्नि समुद्र की जल-राशि को जलाकर, त्रिभुवन को भस्म कर डालने के इरादे से, समुद्र के ऊपर उठ आयी हो। धीरे-धीरे दिननाथ का बिंब क्षितिज के ऊपर आ गया। तब एक और ही प्रकार के दृश्य के दर्शन हुए। ऐसा मालूम हुआ, जैसे सूर्य का वह विंब एक बहुत बड़ा घडा है, और दिग्वधुएँ जोर लगाकर समुद्र के भीतर से उसे खीच रही है। सूर्य की किरणों ही को आप लंबी-लंबी मोटी रस्सियाँ समझिए। उन्ही से उन्होंने बिंब को बाँध-सा दिया है, और खीचते वक्त, पक्षियो के कलरव के बहाने, वे यह कह-कहकर शोर मचा रही है कि खीच लिया है; कुछ ही बाकी है, ऊपर आना ही चाहता है; जरा और जोर लगाना।

दिगंगनाओं के द्वारा खीच-खाँचकर किसी तरह सागर की सलिल-राशि से बाहर निकाले जाने पर सूर्यबिंब चमचमाता हुआ लाल-लाल दिखायी दिया। अच्छा, बताइए तो सही, यह इस तरह का क्यों है ? हमारी समझ मे तो यह आता है कि सारी रात पयोनिधि के पानी के भीतर जब यह पड़ा था, तब बड़वाग्नि की ज्वाला ने इसे तपाकर खूब दहकाया होगा। तभी तो खैर (खदिर) के जले हुए कुंदे के अंगार के सदृश लालिमा लिये हुए यह इतना शुभ्र दिखायी दे रहा है। अन्यथा, आप ही कहिए, इसके इतने अंगार गौर होने का और क्या कारण हो सकता है ?

सूर्यदेव की उदारता और न्यायशीलता तारीफ के लायक है। तरफ़दारी तो उसे छू-तक नही गयी—पक्षपात की तो गंध तक उसमें नही, देखिए न, उदय तो उसका उदयाचल पर हुआ; पर क्षण ही भर मे उसने अपने नये किरण-कलाप को उसी पर्वत के शिखर पर नही, प्रत्युत सभी पर्वतों के शिखरों पर फैलाकर उन सब की शोभा बढा दी। उसकी इस उदारता के कारण इस समय ऐसा मालूम हो रहा है, जैसे सभी भूधरों ने अपने शिखरो—अपने मस्तकों—पर दुपहरिया के लाल-लाल फूलों के मुकुट धारण कर लिये हों। सच है, उदारशील

सज्जन अपने चारुचरितों से अपने ही उदय-देश को नही, अन्य देशों को भी आप्यायित करते हैं।

उदयाचल के शिखर रूप आँगन मे बालसूर्य को खेलते हुए धीरे-धीरे रेंगते देख पद्मिनियों को बड़ा प्रमोद हुआ। सुन्दर बालक को आँगन मे जानु-पाणि चलते देख स्त्रियों का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। अतएव उन्होने अपने कमल-मुख के विकास के बहाने हँस-हँसकर उसे बड़े ही प्रेम से देखा। यह दृश्य देखकर माँ के सदृश अंतरिक्ष देवता का हृदय भर आया। वह पक्षियों के कलरव के मिस बोल उठी—आ जा, आ जा; आ बेटा, आ, फिर क्या था; बालसूर्य बाललीला दिखाता हुआ, झट अपने मृदुल कर (किरणे) फैलाकर, अंतरिक्ष की गोद मे कूद गया। उदयाचल पर उदित होकर जरा ही देर मे वह आकाश मे आ गया।

आकाश में सूर्य के दिखायी देते ही नदियों ने विलक्षण ही रूप धारण किया। दोनों तटों या कगारों के बीच से बहते हुए जल पर सूर्य की लाल-लाल प्रातःकालीन धूप जो पड़ी, तो वह जल परिपक्व मदिरा के रंग सदृश हो गया। अतएव ऐसा मालूम होने लगा, जैसे सूर्य ने किरण-बाणों से अंधकाररूपी हाथियों की घटा को सर्वत्र मार गिराया हो; उन्ही के घावों से निकला हुआ रुधिर बह कर नदियों में आ गया हो; और उसी के मिश्रण से उनका जल लाल हो गया हो। कहिये, यह सूझ कैसी है? बहुत दूर की तो नही?

तारों का समुदाय देखने मे बहुत भला मालूम होता है, यह सच है। यह भी सच है कि भले आदमियो को न कष्ट ही देना चाहिए, और न उनको उनके स्थान से च्युत ही करना—हटाना ही—चाहिए। परन्तु सूर्य का उदय अंधकार का नाश करने ही के लिए होता है, और तारों की श्री-वृद्धि अंधकार ही की बदौलत है। इसी से लाचार होकर सूर्य को अंधकार के साथ ही तारों का भी विनाश करना पड़ा—उसे उनको भी जबरदस्ती निकाल बाहर करना पड़ा। बात यह है

कि शत्रु की बदौलत ही जिन लोगों को संपत्ति और प्रभुता प्राप्त होती है, उनको भी मार भगाना ही पड़ता है—शत्रु के साथ ही उनका भी विनाश-साधन करना ही पड़ता है। न करने से भय का कारण बना ही रहता है। राजनीति यही कहती है।

सूर्योदय होते ही अंधकार भयभीत होकर भागा। भागकर वह कहीं गुहाओं के भीतर और कही घरों के कोनों और कोठरियों के भीतर जा छिपा। मगर वहाँ भी उसका गुजारा न हुआ। सूर्य यद्यपि वहुत दूर आकाश में था, तथापि उसके प्रबल तेजःप्रताप ने छिपे हुए अंधकार को उन जगहों से भी निकाल बाहर किया। निकाला ही नही, अपितु उसका सर्वथा नाश भी कर दिया। बात यह है कि तेजस्वियों का कुछ स्वभाव ही ऐसा होता है कि एक निश्चित स्थान में रह कर भी वे अपने प्रताप की धाक से दूर-स्थित शत्रुओं का भी सर्वनाश कर डालते हैं।

सूर्य और चन्द्रमा, ये दोनों ही आकाश की दो आँखों के समान हैं। उनमे से सहस्रकिरणात्मक-मूर्तिधारी सूर्य ने ऊपर उठकर जब अशेप लोकों का अंधकार दूर कर दिया, तब वह खूब ही चमक उठा। उधर वेचारा चन्द्रमा किरण-हीन हो जाने से वहुत ही धूमिल हो गया। इस तरह आकाश की एक आँख तो खूव तेजस्क और दूसरी तेजोहीन हो गयी। अतएव ऐसा मालूम हुआ, जैसे एक आँख, प्रकाशवती और दूसरी अंधी वाला आकाश काना हो गया हो।

कुमुदिनियों का समूह शोभाहीन हो गया और सरोरुहों का समूह शोभा-सपन्न। उलूकों को तो शोक ने आ घेरा और चक्रवाकों को अत्यानन्द ने। इसी तरह सूर्य तो उदय हो गया और चन्द्रमा अस्त। कैसा आश्चर्यजनक विरोधी दृश्य है। दुष्ट दैव की चेष्टाओं का परिपाक कहते नही वनता। वह वड़ा ही विचित्र है। किसी को तो वह हँसाता है, किसी को रुलाता है।

सूर्य को आप दिग्वधुओं का पति समझ लीजिए, और यह भी

समझ लीजिए कि पिछली रात वह कहीं और किसी जगह, अर्थात् विदेश, चला गया था। मौक़ा पाकर, इसी बीच, उसकी जगह पर चन्द्रमा आ विराजा। पर ज्यों ही सूर्य अपना प्रवास समाप्त करके सबेरे, पूर्व दिशा में फिर आ धमका, त्योंही उसे देख चन्द्रमा के होश उड़ गये। अब क्या हो ? और कोई उपाय न देख, अपने किरण-समूह को कपड़े-लत्ते के सदृश छोड़, उपपति के समान गर्दन झुकाकर वह पश्चिम-दिशारूप खिड़की के रास्ते निकल भागा।

महामहिम भगवान मधुसूदन जिस समय कल्पांत में समस्त लोकों का प्रलय, बात-की-बात मे, कर देते हैं, उस समय अपनी समधिक अनुरागवती श्री (लक्ष्मी) को धारण करके—उन्हें साथ लेकर—क्षीर-सागर मे अकेले ही जा विराजते हैं। दिन चढ़ आने पर महिमामय भगवान भास्कर भी, उसी तरह, एक क्षण में, सारे तारा-लोक का संहार करके, अपनी अतिशायिनी श्री (शोभा) के सहित, क्षीर-सागर ही के समान आकाश में, देखिए, अब यह अकेले ही मौज कर रहे हैं।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. 'महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन' नामक निवंध की विशेषताएँ समझाइए।
२. प्रस्तुत निवध की शैलीगत विशेषताओं का उद्घाटन कीजिए।
३. प्रकृति के मानवीकरण की दृष्टि से प्रस्तुत निवध पर विचार कीजिए।
४. सूर्योदय के विकास क्रम के साथ विभिन्न रसों की निष्पत्ति का वर्णन कीजिए।
५. समास-वहुल, सस्कृत-शब्दावली के कारण निबंध के प्रवाह मे अवरोध उत्पन्न होता है, इस मत से आप कहाँ तक सहमत हैं ?
६. निम्नलिखित शब्दो मे विग्रह सहित समास लिखिए :
सुता-सदृश, मधुप-मालाओं, जानु-पाणि, किरण-हीन।
७. लेखक की दृष्टि मे सूर्य-बिब के रक्तिम वर्ण होने का क्या कारण है ?
८. लेखक ने सूर्योदय का किन-किन रूपो मे वर्णन किया है ?

श्यामसुन्दर दास (सन् १८७५-१९४५)

इनका जन्म काशी में हुआ था। इन्होने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यक्ष के रूप मे इनकी सेवा स्तुत्य है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के निर्माण मे इनका सराहनीय योगदान रहा। हिन्दी भाषा तथा साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए इन्होने जो कार्य किया वह सदा स्मरणीय रहेगा। इनकी हिन्दी सेवाओ के लिए इनको राय बहादुर, साहित्य वाचस्पति और डी० लिट्० की उपाधियाँ मिली।

१. साहित्यालोचन, २. हिन्दी कोविदमाला, ३. रूपक रहस्य, ४. भाषा-रहस्य, ५. भाषा-विज्ञान, ६. हिन्दी भाषा और साहित्य, ७ गोस्वामी तुलसीदास, ८. साहित्यिक लेख, ९. मेरी आत्म-कहानी, और **१०. हिन्दी-साहित्य-निर्माता** इनकी प्रमुख रचनाएँ है।

वाबू साहव ने अत्यन्त गंभीर विषयो को बोधगम्य शैली में प्रस्तुत किया है। सस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ तद्भव शब्दो का भी यथेष्ट प्रयोग करके इन्होने शैली को दुरूह वनने से वचाया है। इनकी शैली मे सुबोधता, सरलता और विपय-प्रतिपादन की निपुणता है। इनके वाक्य-विन्यास जटिल और दुर्वोध नही है। इनकी भापा मे उर्दू-फारसी के शब्दों तथा मुहावरो का प्रायः अभाव है। व्यग्य, वक्रोक्ति तथा हास-परिहास से इनके निबध प्रायः शून्य है। विषय-प्रतिपादन के अनुरूप इनकी शैली मे वैज्ञानिक पदावली का समीचीन प्रयोग हुआ है। इनके निवधो मे प्राजलता और परिमार्जन का तो अभाव नही है किन्तु सरस प्रवाह और भापा की स्निग्धता से इनके निवध वचित है।

हिन्दी भापा को सर्वजन सुलभ, वैज्ञानिक और समृद्ध बनाने मे इनका योगदान अप्रतिम है। इन्होने सपादक, निवंधकार तथा आलोचक के रूप मे हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा की है। इन्होने विचारात्मक, गवेपणात्मक तथा व्याख्यात्मक शैलियो का व्यवहार किया है। आलोचना, भापा-विज्ञान, भाषा का इतिहास, लिपि का विकास आदि विपयों पर इन्होने वैज्ञानिक एवं सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी-साहित्य को समृद्ध वनाया है।

प्रस्तुत निबन्ध मे लेखक ने भारतीय साहित्य की विशेषताओ का वर्णन किया है। पहली विशेषता समन्वय की है। भारतीय दर्शन मे परमात्मा तथा जीवात्मा में कोई अन्तर नही माना जाता। लेखक के अनुसार इसी दार्शनिक मान्यता के आधार पर कला व साहित्य मे समन्वय का आदर्श प्रमुख बना। दूसरी विशेपता धार्मिक भावो की प्रचुरता है। इस दूसरी विशेषता के कारण लौकिक जीवन की अनेकरूपता प्रदर्शित न हो सकी। इन दो मुख्य विशेषताओ के अतिरिक्त देश की जलवायु और भौगोलिक स्थिति का भी साहित्य पर प्रभाव पडता है। जातिगत तथा देशगत विशेषताओ की ओर लेखक ने ध्यान आकृष्ट करते हुए इनका प्रभाव साहित्य के भावपक्ष एव कलापक्ष पर स्पष्ट किया है। सम्पूर्ण निबन्ध में लेखक ने आलोचनात्मक दृष्टि अपनायी है।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता, उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकता है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकता है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र मे भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण और आश्रम-चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य मे प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनन्द में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखायी देगा। भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाये गये हैं पर सबका अवसान आनन्द में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ पाश्चात्य प्रणाली के दुखांत नाटक इसीलिए नहीं दीख पड़ते। यदि आजकल दो-चार नाटक

ऐसे देख भी पड़ने लगे हैं, तो वे भारतीय आदर्श से दूर और पाश्चात्य आदर्श के अनुकरण-मात्र हैं। कविता के क्षेत्र मे ही देखिए। यद्यपि विदेशी शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलम्बों की इतिश्री हो चुकी थी। फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

"भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है,
विनती सुनि सानन्द हेरि हँसि करुना वारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-विजई है,
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृति-सेन हारत जितई है।"

आनन्द की कितनी महान् भावना है! चित्त किसी अनुभूत आनन्द की कल्पना मे मानों नाच उठता है। हिन्दी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था; परन्तु फिर भी साहित्यिक समन्वय का भी निरादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिन्दी कवियों में यद्यपि पाश्चात्य आदर्शो की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों को देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की सम्भावना हो रही है, तथापि जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखन वाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा-सा विचार करें, तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वयवाद का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिए साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते है तब उनमें भी साहित्य की भाँति समन्वय की छाप दिखायी पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति उस समय की है, जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरान्त अस्थि-पंजरमात्र ही रहे होंगे; पर मूर्ति मे कही कृशता का पता नही; उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य में भी तथा कला में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रवल हो उठती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अन्तर नही, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य है, चेतन हैं तथा आनन्दस्वरूप है। बंधन मायाजन्य हैं। माया अज्ञान उत्पन्न करने वाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन होता है। आनन्द मे विलीन हो जाना ही मानव-जीवन का परम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते है, तब सारा रहस्य हमारी समझ मे आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्यवस्था की गयी है और जीवन के अनेक क्षेत्रों म उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है; अतः केवल अध्यात्म पक्ष मे ही नहीं, लौकिक आचार-विचार तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेप धर्मो का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिपदों के ब्रह्मवाद, तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिप्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृप्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक हो गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों मे पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन-सम्बन्धी गहन तथा गंभीर

विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार अधिक नही हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिन्दी के वैष्णव-साहित्य तक मे हम यही बात पाते है। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक मे सर्वत्र परोक्ष भावो की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य मे उच्च विचार तथा पूत भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गयी, परन्तु उनमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना आध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गयी; परन्तु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने मे वह कुछ कुंठित-सी हो गयी है। हिन्दी की चरम उन्नति का काल भक्ति-काव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणो का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरल तथा सुन्दर साहित्य की सृष्टि हुई, वह वास्तव मे हमारे गौरव की वस्तु है; परन्तु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक दोप घुस जाते है, तथा गुरुडम की प्रथा चल पडती है, उसी प्रकार साहित्य मे भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है, हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों मे देखते है, एक तो साम्प्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप मे और दूसरा कृष्ण का आधार लेकर की हुई हिन्दी की शृंगारी कविताओं के रूप मे। हिन्दी मे साम्प्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहो" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नही, तो कम-से-कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, साम्प्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यन्त निम्न स्थान है; क्योकि नीरस पदावली के कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है।

राधाकृष्ण को लेकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिए हितकर नही हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करने वाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारी कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तु-स्थिति की किसी प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नही है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो; पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, आगे चलकर लौकिक शरीर-जन्य तथा वासना-मूलक प्रेम में परिणत हो गया।

भारतीय साहित्य की इन दो प्रधान विशेषताओं का उपर्युक्त विवेचन करके अब हम उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नही होते। जलवायु तथा गर्मी-सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृतिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ है तो साइबेरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इंगलैण्ड तथा आयरलण्ड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखण्ड भी हैं। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से जो सम्बन्ध होता है, उसी को हम साहित्य की देशगत विशेषताएँ कहते हैं।

भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निसर्ग-सिद्ध सुषमा है, उस पर भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु उसकी सुन्दरतम विभूतियों में मानव वृत्तियाँ

विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल मे बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ से लंबे-लंबे पेड़ों मे ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते है तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते है; परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैलमाला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है; अथवा जिन्हे घनी अमराइयों की छाया मे कल-कल ध्वनि से बहती हुई निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसन्त-श्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके है, उन्हे अरब की उपर्युक्त वस्तुओं मे सौन्दर्य तो क्या, उल्टे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुन्दर गोद मे क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है। वे हरे-भरे उपवनों तथा सुन्दर जलाशयों के तटों पर विचरण करते तथा प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते है। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के सश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते है तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओं के लिए जैसी सुन्दर वस्तुओं का उपयोग कर सकते है; वैसा रूखे-सूखे देश के निवासी कवि नही कर सकते। यह भारत-भूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौन्दर्य-ज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों मे तल्लीनता की जो अनुभूति होती है उसका उपयोग कविगण कभी-कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते है। यह अखंड भूमण्डल तथा असख्य ग्रह, उपग्रह, रवि-शशि, अथवा जल, वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं! इनके सृष्टि-संचालन आदि के सम्बन्ध मे दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण नीरस तथा शुष्क है। काव्य-जगत् मे इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नही चल सकता; अतः कविगण

बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किन्तु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उसमें भावमग्न होते है। इसे हम प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद का एक अंग मान सकते है। प्रकृति के विविध रूपों मे विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है ; परन्तु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिन्दी मे बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए है, परन्तु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोहर दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की है। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिब अवश्य दिखायी देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्द-संगठन अथवा छन्द-रचना तथा विविध आलकारिक प्रयोगों से नहीं है, प्रत्युत उसमे भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल मे कवि का व्यक्तित्व निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शो तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते है। परन्तु साधारणतः हम देखते है कि कुछ कवियों मे प्रथम पुरुष एक वचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं।

अंग्रेजी में इस विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत तथा अव्यक्तिगत नामक भेद हुए है, परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नही, उसकी शैली के है। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शो का अभिव्यंजन होता है, केवल इस

अभिव्यंजन के ढंग में अन्तर रहता है। एक मे वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्मनिवेदन के रूप में व्यक्त किये जाते है, दूसरी मे उन्हे व्यजित करने के लिए वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों मे दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की कमी पायी जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक है तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है जिसे गीति-काव्य कहते है और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है।

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्वपूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिए हमे उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पडेगा। साथ ही भारतीय संगीत-शास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्य रचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर, मात्रिक अथवा लघु-मात्रिक आदि छन्द-समुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है; परन्तु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नही। दूसरे इनका सम्बन्ध साहित्य के इतिहास से उतना अधिक नही है जितना व्याकरण, अलंकार और पिगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमे जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नही दीख पड़ती, क्योंकि ये सब बाते थोड़े बहुत अन्तर से प्रत्येक देश के साहित्य में पायी जाती हैं।

—श्यामसुन्दर दास

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतीय साहित्य की सबसे बडी विशेपता क्या है ? स्पष्ट कीजिए।
२. साहित्यिक समन्वय से लेखक का क्या तात्पर्य है ?
३. इस निबन्ध के आधार पर निबन्धकार की निम्नलिखित उक्ति को सिद्ध कीजिए :—
"भारतीय साहित्य धर्म से प्रभावित है।"

४. "प्रकृति का संश्लिष्ट और सजीव चित्रण ही भारतीय साहित्य को अन्य देशों के साहित्य से भिन्न करता है।" आप इस कथन से कहाँ तक सहमत है ?

५. भारतीय नाटकों का अवसान आनन्द मे ही क्यो किया जाता है ?

६. भारतीय साहित्य में प्रकृति का प्रभाव किन-किन रूपो में दृष्टिगत हो रहा है ?

७. भावपक्ष और कलापक्ष का क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।

८. कविता के व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत भेदो का उल्लेख करते हुए विवेचन कीजिए कि इस दृष्टि से भारतीय साहित्य अग्रेजी साहित्य से किस प्रकार भिन्न है ?

९. निम्नलिखित शब्दों मे समास बताइए :—
घात-प्रतिघात, वसन्त-श्री, सृष्टि-संचालक।

१०. निम्नलिखित शब्दों का आशय स्पष्ट कीजिए :—
जातीय-साहित्य, देशगत-साहित्य, सामान्य तथा विशेष धर्म।

११. अधोलिखित वाक्यों की व्याख्या कीजिए :—
(क) 'आनन्द मे विलीन हो जाना ही मानव जीवन का परम उद्देश्य है।'
(ख) 'यद्यपि आदर्श की कल्पना……कर लेते है।'
(ग) 'भारत की शस्यश्यामला……रहा है।'

१२. उपर्युक्त निबन्ध के आधार पर श्यामसुन्दर दास की गद्य-शैली की विशेषताएँ बताइए।

———

सरदार पूर्णसिंह (सन् १८८१-१९३१)

सरदार पूर्णसिंह द्विवेदी-युग के श्रेष्ठ निवन्धकार है। इनका जन्म सीमा प्रान्त (जो अव पाकिस्तान मे है) के एवटावाद जिले के एक गाँव में सन् १८८१ में हुआ था। इनकी आरभिक शिक्षा रावलपिंडी में हुई थी। हाई स्कूल उत्तीर्ण करने के वाद ये लाहौर चले गये। लाहौर के एक कालेज से इन्होने एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके वाद एक विशेप छात्रवृत्ति प्राप्त कर सन् १९०० में रसायन शास्त्र के विशेप अध्ययन के लिए ये जापान गये और वहाँ इम्पीरियल यूनिवर्सिटी मे अध्ययन करने लगे। जव जापान में होने वाली 'विश्व,धर्म सभा' मे भाग लेने के लिए स्वामी रामतीर्थ वहाँ पहुँचे तो उन्होने वहाँ अध्ययन कर रहे भारतीय विद्यार्थियो से भी भेट की। इसी क्रम मे सरदार पूर्णसिंह से स्वामी रामतीर्थ की भेट हुई। स्वामी रामतीर्थ से प्रभावित होकर इन्होने वही सन्यास ले लिया और स्वामीजी के साथ ही भारत लौट आये। स्वामीजी की मृत्यु के वाद इनके विचारो में परिवर्तन हुआ और इन्होने विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करना आरम्भ किया। इनको देहरादून के इम्पीरियल फारेस्ट इस्टीट्यूट मे ७०० रु० महीने की एक अच्छी नौकरी मिल गयी। ये स्वतत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे इसलिए इस नौकरी को निभा नही सके और अत मे इस्तीफा देकर अलग हो गये। इसके वाद ये ग्वालियर गये। वहाँ इन्होने सिक्खो के दस गुरुओ और स्वामी रामतीर्थ की जीवनियाँ अग्रेजी में लिखी। ग्वालियर में भी इनका मन नही लगा। तव ये पजाब के जड़ावाला स्थान में जाकर खेती करने लगे। खेती मे घाटा हुआ और ये अर्थ-सकट मे पड़कर नौकरी की तलाश मे इधर-उधर भटकने लगे। मार्च सन् १९३१ मे इनकी मृत्यु हो गयी। इनका सम्बन्ध क्रातिकारियो से भी था। 'देहली षडयंत्र' के मुकदमे में मास्टर अमीरचद के साथ इनको भी पूछताछ के लिए बुलाया गया था किन्तु इन्होने मास्टर अमीरचंद से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध होना स्वीकार नही किया। प्रमाण के अभाव में इनको छोड दिया गया। वस्तुत. मास्टर अमीरचद स्वामी रामतीर्थ के परमभक्त

और इनके गुरुभाई थे। प्राणों की रक्षा के लिए इन्होंने न्यायालय मे झूठा बयान दिया था। इस घटना का इनके मन पर गहरा प्रभाव पडा था। भीतर-भीतर ये पश्चात्ताप की अग्नि में जलते रहते थे। इस कारण भी ये व्यवस्थित जीवन व्यतीत नही कर सके और हिन्दी-साहित्य की एक बड़ी प्रतिभा पूरी शक्ति से हिन्दी की सेवा नही कर सकी।

सरदार पूर्णसिंह के हिन्दी में कुल छ. निबध उपलब्ध है। **१. सच्ची वीरता, २. आचरण की सभ्यता, ३. मजदूरी और प्रेम, ४. अमेरिका का मस्त योगी वॉल्ट ह्विटमैन, ५ कन्यादान** और **६. पवित्रता**। इन्ही निबधो के बल पर इन्होने हिन्दी-गद्य-साहित्य के क्षेत्र में अपना स्थायी स्थान बना लिया है। अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय इनकी जीवन-दृष्टि की प्रमुख विशेषता हैं। इन्होने निबध रचना के लिए मुख्य रूप से नैतिक विषयों को ही चुना हैं। इनके निबध भावात्मक कोटि मे आते है। उनमें भावावेग के साथ ही विचारों के सूत्र भी लक्षित होते है जिन्हे प्रयत्नपूर्वक जोडा जा सकता है। ये प्रायः मूल विषय से हटकर उससे संवधित अन्य विपयो की चर्चा करते हुए दूर तक भटक जाते है और फिर स्वय सफाई देते हुए मूल विषय पर लौट आते है। उद्धरण-बहुलता और प्रसंग-गर्भत्व इनकी निवंध-शैली की विशेषता हैं। इनकी निबध-शैली पर भाषण शैली का प्रभाव है। आपकी भाषा प्रवाहमयी और लाक्षणिक हैं। इनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और मानवीय कल्याण-भावना से भावित हैं। इनके व्यक्तित्व की ओजस्विता इनके निबन्धों में व्यजित है। इनके निबंध इनकी मनोलहरी से जुडे है और ये सच्चे अर्थो में एक आत्मव्यजक निवन्धकार कहे जा सकते है।

इनकी निबध-शैली अनेक दृष्टियो से निजी शैली है। इनके विचार भावुकता की लपेट में लिपटे हुए होते हैं। कही ये कवित्व की ओर मुड़ जाते हैं और कही उपदेशक से प्रतीत होते हैं। कही इनकी वाणी के पटल पर समाज के मार्मिक चित्र उभर कर आते है और कही प्रकृति के मनोरम दृश्य। विचारो और भावनाओ के क्षेत्र में ये किसी सम्प्रदाय से वँधकर नही चलते। इसी प्रकार शब्द-चयन में भी ये अपने स्वच्छन्द स्वभाव को प्रकट करते है। इनका एक ही धर्म है मानववाद और एक ही भाषा है हृदय की भापा। सच्चे मानव की खोज और सच्चे हृदय की भापा की तलाश ही इनके साहित्य का लक्ष्य हैं।

प्रस्तुत निबध में लेखक ने आचरण की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। लेखक की दृष्टि मे लम्बी-चौड़ी बातें करना, वड़ी-बड़ी पुस्तके लिखना और दूसरों को उपदेश

देना तो आसान है किन्तु ऊँचे आदर्शो को आचरण में उतारना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार हिमालय की सुन्दर चोटियो की रचना में प्रकृति को लाखों वर्ष लगाने पडे हैं उसी प्रकार समाज में सभ्य आचरण को विकसित करने में मनुष्य को लाखो वर्षो की साधना करनी पडी है। जनसाधारण पर सबसे अधिक प्रभाव सभ्य आचरण का ही पड़ता हैं। इसलिए यदि हमें पूर्ण मनुष्य बनना है तो अपने आचरण को श्रेष्ठ और सुन्दर बनाना होगा। आचरण की सभ्यता न तो बड़े-वडे ग्रन्थो से सीखी जा सकती है और न ही मन्दिरों, मस्जिदों और गिरजाघरो से। उनका खुला खजाना तो हमें प्रकृति के विराट् प्रागण में मिलता है। आचरण की सभ्यता का पैमाना है परिश्रम, प्रेम और सरल व्यवहार। इसलिए हमें प्रायः श्रमिकों और सामान्य दीखने वाले लोगो में उच्चतम आचरण के दर्शन प्राप्त हो जाते हैं।

आचरण की सभ्यता

विद्या, कला, कविता, साहित्य, धन और राजत्व से भी आचरण की सभ्यता अधिक ज्योतिष्मती है। आचरण की सभ्यता को प्राप्त करके एक कङ्गाल आदमी राजाओं के दिलों पर भी अपना प्रभुत्व जमा सकता है। इस सभ्यता के दर्शन से कला, साहित्य और सगीत को अद्‌भुत सिद्धि प्राप्त होती है ! राग अधिक मृदु हो जाता है; विद्या का तीसरा शिव-नेत्र खुल जाता है, चित्र-कला का मौन राग अलापने लग जाता है ; वक्ता चुप हो जाता है ; लेखक की लेखनी थम जाती है ; मूर्ति बनाने वाले के सामने नये कपोल, नये नयन और नयी छवि का दृश्य उपस्थित हो जाता है।

आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है। इस भाषा का निघण्टु शुद्ध श्वेत पत्रों वाला है। इसमे नाममात्र के लिए भी शब्द नही । यह सभ्याचरण नाद करता हुआ भी मौन है, व्याख्यान देता हुआ भी व्याख्यान के पीछे छिपा है, राग गाता हुआ भी राग के सुर के भीतर पड़ा है। मृदु वचनों की मिठास में आचरण की सभ्यता मौन रूप से खुली हुई है। नम्रता, दया, प्रेम और उदारता सब के सब सभ्याचरण की भाषा के मौन व्याख्यान हैं। मनुष्य के जीवन पर मौन व्याख्यान का प्रभाव चिरस्थायी होता है और उसकी आत्मा का एक अंग हो जाता है।

न काला, न नीला, न पीला, न सुफेद, न पूर्वी, न पश्चिमी, न उत्तरी, न दक्षिणी, वे नाम, वे निशान, वे मकान—विशाल आत्मा के आचरण से मौनरूपिणी सुगंधि सदा प्रसारित हुआ करती है।

इसके मौन से प्रसूत प्रेम और पवित्रता-धर्म सारे जगत् का कल्याण करके विस्तृत होते है। इसकी उपस्थिति से मन और हृदय की ऋतु वदल जाते है। तीक्ष्ण गरमी से जले भुने व्यक्ति आचरण के काले वादलों की बूँदावाँदी से शीतल हो जाते हैं। मानसोत्पन्न शरद् ऋतु से क्लेशातुर हुए पुरुष इसकी सुगंधमय अटल वसंत ऋतु के आनन्द का पान करते है। आचरण के नेत्र के एक अश्रु से जगत् भर के नेत्र भीग जाते हैं। आचरण के आनन्द-नृत्य से उन्मदिष्णु होकर वृक्षों और पर्वतों तक के हृदय नृत्य करने लगते है। आचरण के मौन व्याख्यान से मनुष्य को एक नया जीवन प्राप्त होता है। नये-नये विचार स्वयं ही प्रकट होने लगते हैं। सूखे काष्ठ सचमुच ही हरे हो जाते है। सूखे कूपों में जल भर आता है। नये नेत्र मिलते है। कुल पदार्थों के साथ एक नया मैत्री-भाव फूट पड़ता है। सूर्य्य, जल, वायु, पुष्प, पत्थर, घास, पात, नर, नारी और बालक तक में एक अश्रुतपूर्व सुन्दर मूर्ति के दर्शन होने लगते हैं।

मौनरूपी व्याख्यान की महत्ता इतनी बलवती, इतनी अर्थवती और इतनी प्रभाववती होती है कि उसके सामने क्या मातृभाषा, क्या साहित्यभाषा और क्या अन्य देश की भाषा सबकी सब तुच्छ प्रतीत होती है। अन्य कोई भाषा दिव्य नही, केवल आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय है। विचार करके देखो, मौन व्याख्यान किस तरह आपके हृदय की नाड़ी-नाडी में सुन्दरता को पिरो देता है! वह व्याख्यान ही क्या, जिसने हृदय की धुन को—मन के लक्ष्य को—ही न बदल दिया। चन्द्रमा की मद-मंद हँसी का तारागण के कटाक्ष-पूर्ण प्राकृतिक मौन व्याख्यान का—प्रभाव किसी कवि के दिल में घुसकर देखो। सूर्यास्त होने के पश्चात्, श्रीकेशवचंद्र सेन और महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने सारी रात एक क्षण की तरह गुजार दी; यह तो कल की वात है। कमल और नरगिस में नयन देखने वाले नेत्रों से पूछो कि मौन व्याख्यान की प्रभुता कितनी दिव्य है।

प्रेम की भाषा शब्द-रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द-रहित है। जीवन का तत्त्व भी शब्द से परे है। सच्चा आचरण---प्रभाव, शील, अचल-स्थिति-संयुक्त आचरण---न तो साहित्य के लंबे व्याख्यानों से गठा जा सकता है; न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से; न अजील से; न कुरान से; न धर्मचर्चा से; न केवल सत्सङ्ग से। जीवन के अरण्य में घुसे हुए पुरुष के हृदय पर प्रकृति और मनुष्य के जीवन के मौन व्याख्यानों के यत्न से सुनार के छोटे हथौड़े की मंद-मद चोटों की तरह आचरण का रूप प्रत्यक्ष होता है।

बर्फ का दुपट्टा बाँधे हुए हिमालय इस समय तो अति सुन्दर, अति ऊँचा और अति गौरवान्वित मालूम होता है; परन्तु प्रकृति ने अगणित शताब्दियों के परिश्रम से रेत का एक-एक परमाणु समुद्र के जल में डुबो-डुबोकर और उनको अपने विचित्र हथौड़े से सुडौल करके इस हिमालय के दर्शन कराये है। आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मन्दिर है। यह वह आम का पेड़ नही जिसको मंदारी एक क्षण मे, तुम्हारी आँखों में मिट्टी डालकर, अपनी हथेली पर जमा दे। इसके बनने मे अनन्त काल लगा है। पृथ्वी बन गयी, सूर्य्य बन गया, तारागण आकाश मे दौड़ने लगे; परन्तु अभी तक आचरण के सुन्दर रूप के पूर्ण दर्शन नही हुए। कही-कही उसकी अत्यल्प छटा अवश्य दिखायी देती है।

पुस्तकों मे लिखे हुए नुसखों से तो और भी अधिक बदहजमी हो जाती है। सारे वेद और शास्त्र भी यदि घोलकर पी लिये जाँय तो भी आदर्श आचरण की प्राप्ति नहीं होती। आचरण-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले को तर्क-वितर्क से कुछ भी सहायता नही मिलती। शब्द और वाणी तो साधारण जीवन के चोचले हैं। ये आचरण की गुप्त गुहा में नहीं प्रवेश कर सकते। वहाँ इनका कुछ भी प्रभाव नही पड़ता। वेद इस देश के रहने वालों के विश्वासानुसार ब्रह्म-वाणी है, परन्तु इतना काल व्यतीत हो जाने पर भी आज तक वे समस्त जगत् की भिन्न-

भिन्न जातियों को संस्कृत भाषा न बुला सके—न समझा सके—न सिखा सके। यह बात हो कैसे? ईश्वर तो सदा मौन है। ईश्वरीय मौन शब्द और भाषा का विषय नही। वह केवल आचरण के कान मे गुरु-मन्त्र फूँक सकता है। वह केवल ऋषि के दिल मे वेद का ज्ञानोदय कर सकता है।

किसी का आचरण वायु के झोंके से हिल जाय तो हिल जाय, परन्तु साहित्य और शब्द की गोलन्दाजी और आँधी से उसके सिर के एक बाल तक का बाँका न होना एक साधारण बात है। पुष्प की कोमल पँखड़ी के स्पर्श से किसी को रोमाञ्च हो जाय; जल की शीतलता से क्रोध और विषय-वासना शांत हो जाँय; बर्फ के दर्शन से पवित्रता आ जाय; सूर्य की ज्योति से नेत्र खुल जाँय—परन्तु अगरेजी भाषा का व्याख्यान—चाहे वह कारलायल ही का लिखा हुआ क्यों न हो—बनारस में पडितों के लिए रामरोला ही है। इसी तरह न्याय और व्याकरण की बारीकियों के विषय मे पडितों के द्वारा की गयी चर्चाएँ और शास्त्रार्थ संस्कृत-ज्ञान-हीन पुरुषों के लिए स्टीम इंजिन के फप्-फप् शब्द से अधिक अर्थ नही रखते। यदि आप कहें व्याख्यानों द्वारा, उपदेशों द्वारा, धर्मचर्चा द्वारा कितने ही पुरुषों और नारियो के हृदय पर जीवन-व्यापी प्रभाव पड़ा है, तो उत्तर यह है कि प्रभाव शब्द का नही पड़ता—प्रभाव तो सदा सदाचरण का पडता है। साधारण उपदेश तो हर गिरजे, हर मंदिर और हर मसजिद मे होते है, परन्तु उनका प्रभाव तभी हम पर पड़ता है जब गिरजे का पादडी स्वय ईसा होता है—मदिर का पुजारी स्वयं ब्रह्मर्षि होता है—मसजिद का मुल्ला स्वय पैगम्बर और रसूल होता है।

यदि एक ब्राह्मण किसी डूबती कन्या की रक्षा के लिए—चाहे वह कन्या जिस जाति की हो, जिस किसी मनुष्य की हो, जिस किसी देश की हो—अपने आप को गंगा मे फेक दे—चाहे उसके प्राण यह काम करने में रहे चाहे जाँय—तो इस कार्य मे प्रेरक आचरण की मौनमयी

भाषा किस देश में, किस जाति मे और किस काल में, कौन नहीं समझ सकता ? प्रेम का आचरण, दया का आचरण---क्या पशु क्या मनुष्य---जगत् के सभी चराचर आप ही आप समझ लेते है। जगत् भर के वच्चों की भाषा इस भाष्यहीन भाषा का चिह्न है। वालकों के इस शुद्ध मौन का नाद और हास्य भी सव देशों मे एक ही सा पाया जाता है।

मनुष्य का जीवन इतना विशाल है कि उसके आचरण को रूप देने के लिए नाना प्रकार के ऊँच-नीच और भले-बुरे विचार, अमीरी और गरीवी, उन्नति और अवनति इत्यादि सहायता पहुँचाते है। पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता। जो कुछ जगत् मे हो रहा है वह केवल आचरण के विकास के अर्थ हो रहा है। अन्तरात्मा वही काम करती है जो वाह्य पदार्थो के संयोग का प्रतिविम्व होता है। जिनको हम पवित्रात्मा कहते है, क्या पता है, किन-किन कूपों से निकलकर वे अव उदय को प्राप्त हुए हैं। जिनको हम धर्मात्मा कहते हैं, क्या पता है, किन-किन अधर्मो को करके वे धर्म-ज्ञान को पा सके हैं, जिनको हम सभ्य कहते हैं और जो अपने जीवन मे पवित्रता को ही सव कुछ समझते हैं, क्या पता है, वे कुछ काल पूर्व वुरी और अधर्म अपवित्रता में लिप्त रहे हों ? अपने जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों से भरी हुई अन्धकारमय कोठरी से निकलकर ज्योति और स्वच्छ वायु से परिपूर्ण खुले हुए देश में जब तक अपना आचरण अपने नेत्र न खोल चुका हो तब तक धर्म के गूढ़ तत्त्व कैसे समझ में आ सकते हैं। नेत्र-रहित को सूर्य से क्या लाभ ? हृदय-रहित को प्रेम से क्या लाभ ? वहरे को राग से क्या लाभ ? कविता, साहित्य, पीर, पैगम्बर, गुरु, आचार्य, ऋषि आदि के उपदेशों से लाभ उठाने का यदि आत्मा मे वल नहीं तो उनसे क्या लाभ ? जव तक यह जीवन का वीज पृथ्वी के मल-मूत्र के ढेर में पड़ा है, अथवा जव तक वह खाद की गर्मी से अंकुरित नही हुआ और प्रस्फुटित होकर उससे दो नये पत्ते

ऊपर नहीं निकल आये, तव तक ज्योति और वायु उसके किस काम के ?

वह आचरण जो धर्म-सम्प्रदायों के अनुच्चारित शव्दों को सुनाता है, हममें कहाँ ? जब वही नही तव फिर क्यों न ये सम्प्रदाय हमारे मानसिक महाभारतों के कुरुक्षेत्र वने ? क्यों न अप्रेम, अपवित्रता, हत्या और अत्याचार इन सम्प्रदायों के नाम से हमारा खून करे। कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित पुरुषों के लिए कल्याणकारक नही हो सकता और आचरण वाले पुरुषों के लिए सभी धर्म-सम्प्रदाय कल्याणकारक है। सच्चा साधु धर्म को गौरव देता है, धर्म किसी को गौरवान्वित नही करता।

आचरण का विकास जीवन का परमोद्देश है। आचरण के विकास के लिए नाना प्रकार की सामग्रियों का, जो ससार-संभूत शारीरिक, प्राकृतिक, मानसिक और आध्यात्मिक जीवन मे वर्तमान हैं, उन सवकी (सवका ?) क्या एक पुरुप और क्या एक जाति के आचरण के विकास के साधनों के सम्वन्ध मे विचार करना होगा। आचरण के विकास के लिए जितने कर्म हैं उन सबको आचरण के संघटनकर्त्ता धर्म के अङ्ग मानना पड़ेगा। चाहे कोई कितना ही वड़ा महात्मा क्यों न हो, वह निश्चयपूर्वक यह नही कह सकता कि यों ही करो, और किसी तरह नही। आचरण की सभ्यता की प्राप्ति के लिए वह सवको एक पथ नही बता सकता। आचरणशील महात्मा स्वयं भी किसी अन्य की वनायी हुई सड़क से नही आया, उसने अपनी सड़क स्वयं ही बनायी थी। इसी से उसके वनाये हुए रास्ते पर चलकर हम भी अपने आचरण को आदर्श के ढॉचे मे नही ढाल सकते। हमे अपना रास्ता अपने जीवन की कुदाली की एक-एक चोट से रात-दिन वनाना पड़ेगा और उसी पर चलना भी पड़ेगा। हर किसी को अपने देश-कालानुसार रामप्राप्ति के लिए अपनी नैया आप ही बनानी पड़ेगी और आप ही चलानी भी पड़ेगी।

यदि मुझे ईश्वर का ज्ञान नही तो ऐसे ज्ञान ही से क्या प्रयोजन ? जब तक मैं अपना हथौड़ा ठीक-ठीक चलाता हूँ और रूपहीन लोहे को तलवार के रूप मे गढ़ देता हूँ तब तक मुझे यदि ईश्वर का ज्ञान नही तो नही होने दो। उस ज्ञान से मुझे प्रयोजन ही क्या ? जब तक मै अपना उद्धार ठीक और शुद्ध रीति से किये जाता हूँ तब तक यदि मुझे आध्यात्मिक पवित्रता का भान नही होता तो न होने दो। उससे सिद्धि ही क्या हो सकती है ? जब तक किसी जहाज के कप्तान के हृदय में इतनी वीरता भरी हुई है कि वह महाभयानक समय में अपने जहाज को नहीं छोड़ता तब तक यदि वह मेरी और तेरी दृष्टि में शराबी और स्त्रैण है तो उसे वैसा ही होने दो। उसकी बुरी बातों से हमें प्रयोजन ही क्या ? आँधी हो—बरफ हो—बिजली की कड़क हो—समुद्र का तूफान हो—वह दिन रात आँख खोले अपन जहाज की रक्षा के लिए जहाज क पुल पर घूमता हुआ अपन धर्म का पालन करता है। वह अपने जहाज के साथ समुद्र में डूब जाता है, परन्तु अपना जीवन बचाने के लिए कोई उपाय नही करता। क्या उसके आचरण का यह अंश मेरे-तेरे बिस्तर और आसन पर बैठे-बिठाये कहे हुए निरर्थक शब्दों के भाव से कम महत्त्व का है ?

न मै किसी गिरजे मे जाता हूँ और न किसी मंदिर में, न मैं नमाज पढता हूँ और न रोजा ही रखता हूँ, न संध्या ही करता हूँ और न कोई देवपूजा ही करता हूँ, न किसी आचार्य के नाम का मुझे पता है और न किसी के आगे मैंने सिर ही झुकाया है। तो इससे प्रयोजन ही क्या और इससे हानि भी क्या ? मै तो अपनी खेती करता हूँ, अपने हल और बैलों को प्रात.काल उठकर प्रणाम करता हूँ, मेरा जीवन जंगल के पेड़ों और पत्तियों की सङ्गति मे गुजरता है, आकाश के बादलों को देखते मेरा दिन निकल जाता है। मैं किसी को धोखा नही देता, हाँ, यदि मुझे कोई धोखा दे तो उससे मेरी कोई हानि नही। मेरे खेत में अन्न उग रहा है, मेरा घर अन्न

से भरा है, विस्तर के लिए मुझे एक कमली काफी है, कमर के लिए लँगोटी और सिर के लिए एक टोपी वस है। हाथ-पाँव मेरे वलवान हैं, शरीर मेरा आरोग्य है, भूख खूव लगती है, वाजरा और मकई, छाछ और दही, दूध और मक्खन मुझे और मेरे वच्चों को खाने के लिए मिल जाता है। क्या इस किसान की सादगी और सचाई में वह मिठास नही जिसकी प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न धर्म सम्प्रदाय लवी-चौड़ी और चिकनी-चुपड़ी वातों द्वारा दीक्षा दिया करते है ?

जव साहित्य, सङ्गीत और कला की अति ने रोम को घोड़े से उतारकर मखमल के गद्दों पर लिटा दिया—जव आलस्य और विपय-विकार की लम्पटता ने जङ्गल और पहाड़ की साफ हवा के असभ्य और उद्दण्ड जीवन से रोमवालों का मुख मोड़ दिया तव रोम नरम तकियों और विस्तरों पर ऐसा सोया कि अव तक न आप जागा और न कोई उसे जगा सका। ऐंग्लो-सैक्सन जाति ने जो उच्च पद प्राप्त किया वह उसने अपने समुद्र जगल और पर्वत से सम्वन्ध रखने वाले जीवन से ही प्राप्त किया। जाति की उन्नति लडने-भिड़ने, मरने-मारने, लूटने और लूटे जाने, शिकार करने और शिकार होने वाले जीवन का ही परिणाम है। लोग कहते है, केवल धर्म ही जाति की उन्नति करता है। यह ठीक है, परन्तु यह धर्मांकुर जो जाति को उन्नत करता है, इस असभ्य, कमीने और पापमय जीवन की गंदी राख के ढेर के ऊपर नही उगता है। मंदिरों और गिरजों की मन्द-मन्द, टिमटिमाती हुई मोमवत्तियों की रोशनी से यूरप इस उच्चावस्था को नही पहुँचा। वह कठोर जीवन जिसको देशदेशान्तरों को ढूँढते-फिरते रहने के विना शान्ति नही मिलती, जिसकी अन्तर्ज्वाला दूसरी जातियों को जीतने, लूटने, मारने और उन पर राज करने के विना मन्द नहीं पड़ती—केवल वहीं विशाल जीवन समुद्र की छाती पर मूँग दल कर और पहाड़ों को फाँद कर उनको उस महानता की ओर ले गया और ले जा

रहा है। राविनहुड की प्रशंसा में इंगलैण्ड के जो कवि अपनी सारी शक्ति खर्च कर देते है उन्हें तत्त्वदर्शी कहना चाहिए, क्योंकि राविनहुड जैसे भौतिक पदार्थो से ही नेलसन और वेलिगटन जैसे अँगरेज वीरों की हड्डियाँ तैयार हुई थीं। लड़ाई के आजकल के सामान —गोले, वारूद, जंगीजहाज और तिजारती वेड़ों आदि—को देखकर कहना पड़ता है कि इनसे वर्तमान सभ्यता से भी कहीं अधिक उच्च सभ्यता का जन्म होगा।

धर्म और आध्यात्मिक विद्या के पौधे को ऐसी आरोग्य-वर्धक भूमि देने के लिए, जिसमें वह प्रकाश और वायु में सदा खिलता रहे, सदा फूलता रहे, सदा फलता रहे, यह आवश्यक है कि बहुत-से हाथ एक अनन्त प्रकृति के ढेर को एकत्र करते रहें। धर्म की रक्षा के लिए क्षत्रियों को सदा ही कमर बाँधे हुए सिपाही बने रहने का भी तो यही अर्थ है। यदि कुल समुद्र का जल उड़ा दो तो रेडियम धातु का एक कण कही हाथ लगेगा। आचरण का रेडियम—क्या एक पुरुप का, और क्या जाति का, और क्या एक जगत् का—सारी प्रकृति को खाद बनाये विना—सारी प्रकृति को हवा मे उडाये विना भला कव मिलने का है? प्रकृति को मिथ्या करके नही उड़ाना; उसे उड़ाकर मिथ्या करना है? समुद्रों में डोरा डाल कर अमृत निकाला है। सो भी कितना? जरा सा! संसार की खाक छानकर आचरण का स्वर्ण हाथ आता है। क्या बैठे-विठाये भी वह मिल सकता है?

हिन्दुओं का सम्वन्ध यदि किसी प्राचीन असभ्य जाति के साथ रहा होता तो उनके वर्तमान वंश में अधिक वलवान श्रेणी के मनुष्य होते—तो उनमें भी ऋपि, पराक्रमी, जनरल और धीर-वीर पुरुप उत्पन्न होते। आजकल तो वे उपनिपदों के ऋषियों के पवित्रतामय प्रेम के जीवन को देख-देखकर अहङ्कार में मग्न हो रहे हैं और दिन पर दिन अधोगति की ओर जा रहे हैं। यदि वे किसी

जंगली जाति की संतान होते तो उनमें भी ऋषि और बलवान् योद्धा होते। ऋषियों को पैदा करने के योग्य असभ्य पृथ्वी का बन जाना तो आसान है, परन्तु ऋषियों को अपनी उन्नति के लिए राख और पृथ्वी वनाना कठिन है, क्योंकि ऋषि तो केवल अनन्त प्रकृति पर सजते हैं, हमारी जैसी पुष्प-शय्या पर मुरझा जाते हैं। माना कि प्राचीन काल में, यूरप में, सभी असभ्य थे, परन्तु आजकल तो हम असभ्य हैं। उनकी असभ्यता के ऊपर ऋषि-जीवन की उच्च सभ्यता फूल रही है और हमारे ऋषियों के जीवन के फूल की शय्या पर आजकल असभ्यता का रङ्ग चढ़ा हुआ है। सदा ऋषि पैदा करते रहना, अर्थात् अपनी ऊँची चोटी के ऊपर इन फूलों को सदा धारण करते रहना ही जीवन के नियमों का पालन करना है।

धर्म के आचरण की प्राप्ति यदि ऊपरी आडम्बरों से होती तो आजकल भारत-निवासी सूर्य के समान शुद्ध आचरण वाले हो जाते। भाई ! माला से तो जप नहीं होता। गङ्गा नहाने से तो तप नही होता। पहाड़ों पर चढने से प्राणायाम हुआ करता है, समुद्र मे तैरने से नेती धुलती है; आँधी, पानी और साधारण जीवन के ऊँच-नीच, गरमी-सरदी, गरीबी-अमीरी, को झेलने से तप हुआ करता है। आध्यात्मिक धर्म क स्वप्नों की शोभा तभी भली लगती है जव आदमी अपने जीवन का धर्म पालन करे। खुले समुद्र मे अपने जहाज पर बैठ कर ही समुद्र की आध्यात्मिक शोभा का विचार होता है। भूखे को तो चन्द्र और सूर्य भी केवल आटे की बड़ी-वड़ी दो रोटियाँ से प्रतीत होते हैं। कुटिया मे ही वैठकर धूप, आँधी और वर्फ की दिव्य शोभा का आनन्द आ सकता है। प्राकृतिक सभ्यता के आने पर ही मानसिक सभ्यता आती है और तभी वह स्थिर भी रह सकती है। मानसिक सभ्यता के होने पर ही आचरण-सभ्यता की प्राप्ति संभव है, और तभी वह स्थिर भी हो सकती है। जव तक निर्धन पुरुप पाप से अपना पेट भरता है तब तक धनवान् पुरुष के

शुद्धाचरण की पूरी परीक्षा नही। इसी प्रकार जब तक अज्ञानी का आचरण अशुद्ध है, तब तक ज्ञानवान् के आचरण की पूरी परीक्षा नहीं—तब तक जगत् में आचरण की सभ्यता का राज्य नही।

आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। न उसमें विद्रोह है, न जंग ही का नामोनिशान है और न वहाँ कोई ऊँचा है, न नीचा। न कोई वहाँ धनवान है और न कोई वहाँ निर्धन। वहाँ प्रकृति का नाम नही, वहाँ तो प्रेम और एकता का अखंड राज्य रहता है। जिस समय आचरण की सभ्यता संसार मे आती है उस समय नीले आकाश से मनुष्य को वेद-ध्वनि सुनायी देती है, नर-नारी पुष्पवत् खिलते जाते हैं, प्रभात हो जाता है, प्रभात का गजर बज जाता है, नारद की वीणा अलापने लगती है, ध्रुव का शख गूँज उठता है, प्रह्लाद का नृत्य होता है, शिव का डमरू वजता है, कृष्ण की बाँसुरी की धुन प्रारम्भ हो जाती है। जहाँ ऐसे शव्द होते हैं, जहाँ ऐसे पुरुष रहते है, वहाँ ऐसी ज्योति होती है, वही आचरण की सभ्यता का सुनहरा देश है। वही देश मनुष्य का स्वदेश है। जब तक घर न पहुँच जाय, सोना अच्छा नही, चाहे वेदों मे, चाहे इंजील मे, चाहे कुरान मे, चाहे त्रिपीठक मे, चाहे इस स्थान में, चाहे उस स्थान में, कही भी सोना अच्छा नही। आलस्य मृत्यु है। लेख तो पेड़ों के चित्र सदृश होते है, पेड़ तो होते ही नही जो फल लावे। लेखक ने यह चित्र इसलिए भेजा है कि सरस्वती में चित्र को देखकर शायद कोई असली पेड को जाकर देखने का यत्न करे।

—सरदार पूर्णसिंह

प्रश्न-अभ्यास

१ आचरण की सभ्यता से आप क्या समझते है? इस पाठ का संक्षेप अपने शव्दों मे प्रस्तुत कीजिए।

२. निम्नलिखित सूत्र-वाक्यो की व्याख्या कीजिए :—

(क) आचरण की सभ्यतामय भाषा सदा मौन रहती है।

(ख) प्रेम की भापा शब्द रहित है।

(ग) आचरण भी हिमालय की तरह एक ऊँचे कलश वाला मंदिर है।

(घ) पवित्र अपवित्रता उतनी ही बलवती है, जितनी कि पवित्र पवित्रता

(ङ) राजा में फकीर छिपा हुआ है और फकीर मे राजा।

वुद्धदेव, ईसा और महाप्रभु चैतन्य कौन थे ? आचरण की सभ्यता से इनका क्या सम्वन्ध था ?

निम्नलिखित गद्य-खंडो की सदर्भ-सहित व्याख्या कीजिए .—

(क) 'आचरण की सभ्यतामय भापा· · · · · आत्मा का एक अग हो जाता है।'

(ख) 'मौनरूपी व्याख्यान· · · · · · ·आचरण की मौन भाषा ही ईश्वरीय हैं।'

(ग) 'कोई भी सम्प्रदाय आचरण-रहित· · · · · ·गौरवान्वित नही करता।'

(घ) 'आचरण की सभ्यता का देश· · · · · · ·एकता का अखड राज्य रहता है।'

(ङ) 'जिस समय आचरण की सभ्यता· · · · · · ·धुन प्रारम्भ हो जाती है।'

लक्षणा शक्ति से आप क्या समझते हैं ? उदाहरण द्वारा प्रमाणित कीजिए कि सरदार पूर्णसिंह की भाषा लाक्षणिक है।

निबध मे आत्म-व्यजना का क्या महत्त्व है ? क्या आचरण की सभ्यता को आत्म-व्यंजक निबध कह सकते हैं ?

'अध्यापक पूर्णसिंह अपने निबधो में विदेशी शब्दो को वेझिझक ग्रहण करते है लेकिन उससे निवन्ध के प्रवाह मे अवरोध नही उत्पन्न होता।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

'आचरण का विकास जीवन का परम उद्देश्य है' इस कथन की पुष्टि कीजिए।

———

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सन् १८८४-१९४१)

पं० रामचन्द्र शुक्ल का जन्म बस्ती जिले के 'अगोना' ग्राम में सन् १८८४ मे हुआ था। इनके पिता पं० चन्द्रबली शुक्ल मिर्जापुर में सदर कानूनगो थे। शुक्ल जी की प्रारभिक शिक्षा मिर्जापुर के जुबिली स्कूल में हुई। सन् १९०१ में इन्होंने लदन मिशन स्कूल से स्कूल फाइनल की परीक्षा पास की। आगे पढने के लिए शुक्लजी ने इलाहाबाद की कायस्थ पाठशाला में नाम लिखाया किन्तु गणित मे कमजोर होने के कारण एफ० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण न कर सके। इसके पश्चात् उन्होंने 'प्लीडरशिप' की परीक्षा पास करनी चाही किन्तु इसमे भी इनको सफलता न मिल सकी। मिर्जापुर के तत्कालीन कलेक्टर विंढम साहब की कृपा से इनको अग्रेजी आफिस मे २० रु० मासिक की नौकरी मिल गयी। कुछ ही दिनो बाद इन्होंने यह नौकरी छोड़ दी। सन् १९०८ मे ये मिर्जापुर के मिशन स्कूल मे ड्राइंग मास्टर नियुक्त हुए। हिन्दी साहित्य के प्रति उनके मन में प्रारंभ से ही अनुराग था। मिर्जापुर मे उनको अन्य विषयो के साथ हिन्दी के अध्ययन की भी प्रेरणा मिली। यहाँ उनको पं० केदारनाथ पाठक, श्री रामगरीब चौबे, श्री काशीप्रसाद जायसवाल, पं० बदरीनाथ गौड़ आदि समवयस्क हिन्दी-प्रेमियों की एक अच्छी खासी मित्र-मडली मिल गयी थी। यहाँ रहते हुए उन्होने 'आनद कादम्बिनी' के सपादन मे भी सहयोग दिया। प० केदारनाथ पाठक से उनको हिन्दी की पुस्तकें प्राप्त करने में विशेष सहायता मिली थी। सन् १९१० तक उनकी गणना जाने-माने लेखकों मे होने लगी थी। इसी वर्ष शुक्लजी की नियुक्ति 'हिन्दी शब्द-सागर' में काम करने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में हुई। कोश का कार्य समाप्त होते-होते उनकी नियुक्ति हिन्दू विश्व-विद्यालय के हिन्दी-विभाग में अध्यापक के पद पर हो गयी। सन् १९३७ में बाबू श्यामसुन्दरदास के अवकाश ग्रहण करने पर ये हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष बनाये गये। माघ सुदी ६, रविवार, संवत् १९९८ (२ फरवरी, सन् १९४१) की रात्रि ६ बजे के लगभग श्वाँस का दौरा पड़ने से उनकी हृदय गति सहसा रुक गयी और हिन्दी का गौरव-सूर्य रात्रि के अधकार में डूब गया।

आचार्य शुक्ल ने कविता, कहानी, अनुवाद, निबंध, आलोचना, कोश-निर्माण, इतिहास-लेखन आदि अनेक क्षेत्रों मे अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। किन्तु उनकी सर्वाधिक ख्याति निबध लेखक और आलोचक के रूप मे है। उनकी प्रमुख गद्य कृतियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **हिन्दी साहित्य का इतिहास**
(२) **जायसी ग्रंथावली**
(३) **तुलसीदास**
(४) **सूरदास**
(५) **चिन्तामणि भाग १, भाग २**
(६) **रस मीमांसा**

निबंध लेखक के रूप मे आचार्य शुक्ल अपने मनोवैज्ञानिक और काव्यशास्त्रीय निबधो के लिए प्रसिद्ध है। उन्होने **उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध** आदि मनोविकारों पर गभीरतापूर्वक विचार किया है। **काव्य में प्राकृतिक दृश्य, साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप, काव्य में रहस्यवाद, काव्य में अभिव्यंजनावाद** आदि उनके काव्यशास्त्रीय विषयों पर लिखे गये निबध है।

आचार्य शुक्ल की निबध शैली मुख्यरूप से 'विचारात्मक' है। बीच-बीच मे भावात्मक स्थल अवश्य मिल जाते है। व्यंग्य और हास्य के छीटे भी उनके निबंधों मे विद्यमान है। उनके व्यंग्य साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण है। विचारों की सघनता के कारण प्रायः शुक्लजी ने सूत्रशैली का प्रयोग भी किया है। मनोविकारों पर लिखते हुए उन्होने उनके मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और नैतिक तीनो ही पक्षों पर ध्यान रखा है। पहले सक्षेप में, मनोविकार-विशेष को परिभाषित करना, फिर उससे मिलते-जुलते मनोविकार से उसका पार्थक्य दिखाना और अंत मे जीवन मे उसके महत्त्व और प्रभाव की व्याख्या करना आचार्य शुक्ल जी की लेखन-पद्धति की विशेषता है। आचार्य शुक्ल के निबधो को पूर्णत· आत्मव्यजक नही कहा जा सकता; वे हल्की मन.स्थिति मे नही लिखे गये है। वे उनके गंभीर चिन्तन के परिणाम है। इन निबधो के लेखन-क्रम मे उनकी बुद्धि ही प्रधान रूप से सक्रिय रही है, हृदय तो यात्रा का सहचर मात्र रहा है।

प्रस्तुत निबंध मे 'करुणा' का साहित्यिक शैली में मनोवैज्ञानिक विवेचन किया गया है। दूसरो के दु·ख से दु.खी होने का भाव ही 'करुणा' है। इसलिए यह

दु.खात्मक वर्ग मे आने वाला मनोविकार है। करुणा से द्रवीभूत होकर ही मनुष्य दु.खियो की सहायता करता है। इसीलिए सदाचार और शील का आधार करुणा ही है। इसीलिए करुणा को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनोवेग माना जाता है। कभी-कभी करुणा न्याय के निर्वाह में बाधक होती है। न्याय, सम्पन्न एव सुखी तथा विपन्न और दु.खी मे भेद नही करता। असहाय और दु.खी अपराधी के प्रति करुणा उत्पन्न होने पर न्यायकर्त्ता अपनी ओर से उसकी सहायता की व्यवस्था करके न्याय और करुणा दोनो का पालन कर सकता है। करुणा सेंत का सौदा नही है। उसके लिए त्याग आवश्यक है।

करुणा

जब बच्चे को सम्बन्ध ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नीव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम है वैसे ही ये और प्राणी भी है और बिना किसी विवेचना-क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य-कारण-सम्वन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य को देखकर उनके दु.ख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ-ऊँ' करके रोने लगती है तव कोई-कोई वच्चे भी रो पड़ते है। इसी प्रकार जव उनके किसी भी भाई या वहिन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते है।

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते है। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दु.ख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रखी गयी है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे पर दुःख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी में रखा है,-चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर जिसे जिस व्यक्ति

या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी न करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभाल कर रखा। नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया, पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रखा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्रवेश करता है, उसके सुख और दु:ख का वहुत सा अंश दूसरे की क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दु:ख से दुखी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों के दु:ख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दु:ख को देखकर भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम अपना दुखी होना तब तक के लिए बन्द नही रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है; यह और वात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह है कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दु:ख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नही। पर आनन्दित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते है जो या तो हमारा सुहृद या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान या चरित्रवान होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता।

इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है इसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उनमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दु.ख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते है, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दु.ख पर हमें अवश्य अधिक करुणा होगी। फिर भोलीभाली सुन्दरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई-बन्धु को दु.ख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी। करुणा की तीव्रता का सापेक्ष विधान जीवन-निर्वाह की सुगमता और कार्य-विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से समझना चाहिए।

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके सम्वन्ध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होती है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि मे न आयेगा। उसके सव कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दु.ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अतः सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दुःख का निराकरण हुआ। अतः जिन कर्मों से संसार के इस उद्देश्य के साधन हों व उत्तम है। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मों से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन

और दु.ख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्त्विक हैं तथा जिस अन्त.करण वृत्ति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। दूसरी बात यह कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से वचते हैं जिनसे अकारण दूसरे को दु.ख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। वोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नही'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दु.ख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करने वाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दु.खशीलता या दुर्भाव का नही। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम विगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर वड़ों की कोई वात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि वड़ों का अकारण जी दुखे।

मेरे विचार में तो सदा सत्य बोलना, वड़ों का कहना मानना, ये नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ वोलने से वहुधा वड़े-वड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ वोला ही न जाय। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि

के वहाने संसार में बहुत-सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्मग्रंथों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गयी है, विशेषतः जव इस नियम-भग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से वच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध-धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गयी है और गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह वात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विपय किसी न किसी रूप में सात्त्विक शील ही होता है। अतः करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है।

किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती है। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाले प्राणियों की आदि अन्तःकरण-वृत्ति मन या मनोवेग है। अतः इन मनोवेगों मे से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नही। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को

चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषयमात्र ढूँढ़ती है। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करने वाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दु.ख होता है उसमें कभी-कभी दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दु.ख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय मे डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनिश्चय मे परिवर्तित हो जाता है। अतः प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करुणा का विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। जो करुणा हमें साधारणजनों के वास्तविक दुःख के परिज्ञान से होती है, वही करुणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारणजनों का तो हमे दुःख असह्य होता है, पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चित ही। अनिश्चित वात पर सुखी या दुखी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दुःख या करुणा को किसी-किसी प्रान्तिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय के वियोग-जनित दुःख में जो करुणा का अंश रहता है उसका विपय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दुखी होती है—

> वन को निकरि गये दोउ भाई।
> सावन गरजै, भादौं वरसै, पवन चले पुरवाई।
> कौन विरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई।
>
> (गीतावली)

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार मे और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख वैभव था; पर यशोदा इसी सोच में मरती रही कि—

प्रात समय उठ माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगे लैहै ?

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है; जैसे एक पति-वियोगिनी सन्देह करती है कि—

नदी किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट आदि की कोई भावना नही रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के वहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का वहुत सा अश उसी के सम्वन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके ससार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खण्डित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृद के चिर वियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को वहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छा-पूर्त्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की संभावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत

अधीर और विकल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करे कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखायी देगी। मेरा यह कहना नही कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नही है। मेरे कहने का अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्थ परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती वल्कि मन को स्वतः प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा से की जाती है।

दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी सम्भावना है, इस वात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक, विशेषकर सच्चे, सहायक को तो नही रहता। ऐसे विस्तृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है। वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु के भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज-रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाज-शास्त्र के बहुत से वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वहीं तक होता जहाँ तक समाज-शास्त्र के वक्ता वतलाते हैं, तो हमारी दया मोटे, मुसण्डे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन, अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं। पर इसका विल्कुल उल्टा देखने में आता है। दुखी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी। एक अनाथ अवला को मार खाते देख हमें जितनी करुणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इससे स्पष्ट है कि

परस्पर साहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनका धारण करने वाला मनुष्य का छोटा-सा अन्तःकरण नहीं, विश्वात्मा है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं। शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा-सा हो गया। अब प्रायः इस शब्द से हृदय का कोई सच्चा भाव नही समझा जाता है। सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते है। यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहारक्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नही फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करने वाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखायी गयी है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गयी है। कोमल भावों की योजना में दक्ष बंगला के उपन्यास लेखक करुणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यन्त संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देशकाल-सम्बन्धी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध मे उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमे दया आती है, पर जब हम सुनते है कि कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे

आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है।

ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक है अर्थात् प्रकारान्तर से वे उसके लिए विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते है, कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर व कार्य-कारण सम्बन्ध) रखने वाले और वहुत से विषय उपस्थित करते है जो कभी तो सव के सब एक ही भाव के विषय होते है और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तीव्र करते है; कभी भिन्न-भिन्न भावों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भावों को परिवर्तित या धीमा करते है। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मन्द या दूर करने वाली, स्मृति अनुमान या वुद्धि आदि कोई दूसरी अन्त.करण वृत्ति नही है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषण्ड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न सच्चा है। जो मनोविकारों पर सान ही नही चढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि ने पदार्थों के साथ उनके उपयुक्त सम्वन्ध-निर्वाह के पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, वुद्धि, आदि के रहते भी मनुष्य विल्कुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगो के मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है, इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह उसके लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन का स्वाद निकलता जाता है।

वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनन्दित होने के लिए अव उसके हृदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा

होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी के मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दु.ख की ओर ध्यान देने, उस पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नही। इस प्रकार मनुष्य हृदय को दवाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड होता जाता है। उसकी भावुकता का नाश होता जाता है। पापण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह वनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनन्द छोड़ो। वस, हाथ-पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और वात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और वात; पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले-ले तो पहले दो-चार वार उसे दया उत्पन्न होगी; पर जव वार-वार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तव धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा; यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जायगी।

वहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते है जिसमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नही किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का वहुत वढ़ना ठीक नही है।

जीवन के मनोवेगों के अनुपात परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—(१) आवश्यकता (२) नियम और (३) न्याय। हमारा कोई नौकर वहुत वुड्ढा और कार्य करने में अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो

आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक प्रकट नही होने देते। यदि कही पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखायी पड़ता, करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खीचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अपना दुःख नही। आत्मीय जनों का दु.ख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नही।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १,००० रु० उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें १,००० रु० लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १,००० रु० लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता, गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिनका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है, उसको

है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नही। जिसने अपनी कमाई के १,००० रु० अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेत का सौदा नही है। यदि न्यायकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामले में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार पाँच सौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

प्रश्न-अभ्यास

१. पठित निवध के आधार पर करुणा का महत्त्व समझाइए।

२. 'मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नही।' इस कथन की व्याख्या कीजिए।

३. करुणा और वियोग-जनित दु.ख का अन्तर स्पष्ट कीजिए।

४. करुणा और सहानुभूति मे क्या अन्तर है?

५. न्याय और करुणा का परस्पर विरोध क्यों है? समाज के लिए दोनो मे से कौन अधिक उपयोगी है?

६. निम्नलिखित सूत्रवाक्यो की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि सस्थापक यही मनोविकार है।'

(ख) 'सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।'

(ग) 'करुणा अपना वीज अपने आलम्वन या पात्र मे नही फेकती है।'

(घ) 'अनुसारी परिणाम के अभाव मे मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है।'

७. करुणा का भाव सुखात्मक है या दुखात्मक? सुखात्मक वर्ग मे आने वाले किन्ही दो मनोविकारों का उल्लेख कीजिए।

८. व्यास और समास शैली मे क्या अन्तर है? आचार्य शुक्ल की विचारात्मक शैली को समास-शैली कहना कहाँ तक उचित है?

———

डॉ० सम्पूर्णानन्द (सन् १८९०-१९६९)

प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री, कुशल राजनीतिज्ञ एवं मर्मज्ञ साहित्यकार डॉ० सम्पूर्णानन्द का जन्म काशी मे हुआ था। उन्होने बी० एस-सी० की परीक्षा पास करने के वाद ट्रेनिंग कालेज, इलाहावाद से एल० टी० किया।

उन्होने एक अध्यापक के रूप मे जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया और विभिन्न विद्यालयो मे सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य करने के पश्चात् अंतत. राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर देश-सेवा का व्रत लिया। उन्होने स्वतत्रता-सग्राम मे प्रथम पक्ति के सेनानी के रूप में कार्य किया। स्वतत्रता-प्राप्ति के वाद उन्होने उत्तर प्रदेश शासन के शिक्षा-मत्री, गृह-मत्री एव मुख्य-मत्री के पदों को सुशोभित किया। अंत मे वे राजस्थान के राज्यपाल के पद पर आसीन हुए। इस पद से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् जीवन के अतिम क्षणो तक वे काशी मे ही रहे।

उन्होंने धर्म, भारतीय दर्शन एव संस्कृति, इतिहास, विज्ञान तथा ज्योतिष का गहन अध्ययन किया था। अतएव उनकी रचनाओं मे इन तत्त्वों की स्पष्ट छाप दिखायी पड़ती है। उनकी सभी रचनाएँ मौलिक और गवेषणापूर्ण हैं। सन् १९४० मे वे अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। समाजवाद नामक पुस्तक पर उनको प्रसिद्ध मगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुआ था।

उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ निम्नांकित है :—

१. अंतर्राष्ट्रीय विधान, २. चीन की राज्य क्रान्ति, ३ मिस्र की राज्य क्रान्ति, ४. भारत के देशीराज, ५. सम्राट हर्षवर्धन, ६. चेतसिंह और काशी का विद्रोह, ७ महादाजी सिन्धिया, ८. महात्मा गाँधी, ९. आर्यों का आदिदेश, १०. सप्तर्षि मंडल, ११ समाजवाद, १२. चिद्विलास, १३. ब्राह्मण सावधान, १४. भाषा की शक्ति तथा अन्य निवन्ध।

डॉ० साहब का हिन्दी के प्रति अटल अनुराग था। गभीर साहित्य लेखन के साथ ही सपादक के रूप मे भी उनकी सेवाएँ उल्लेखनीय है। उन्होने 'टुडे'

(अंग्रेजी) और 'मर्यादा' पत्रिका का सफल सपादन किया था।

वे गभीर विचारक और प्रौढ लेखक थे। उनकी रचनाओं में उनके व्यक्तित्व और पाण्डित्य की स्पष्ट छाप है। उन्होंने उदात्त साहित्य का निर्माण किया है।

उनकी शैली शुद्ध, परिष्कृत एव साहित्यिक है। उन्होने विषयो का विवेचन तर्कपूर्ण शैली मे किया है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनकी शैली के तीन रूप लक्षित होते है। (१) विचारात्मक (२) व्याख्यात्मक तथा (३) ओजपूर्ण।

विचारात्मक शैली :—इस शैली के अन्तर्गत उनके स्वतत्र एव मौलिक विचारो की अभिव्यक्ति हुई है। भाषा विषयानुकूल एव प्रवाहपूर्ण है। वाक्यो का विधान लघु है, परन्तु प्रवाह तथा ओज सर्वत्र विद्यमान है।

व्याख्यात्मक शैली :—दार्शनिक विपयो के प्रतिपादन के लिए इस शैली का प्रयोग किया गया है। भापा सरल एव संयत है। उदाहरणो के प्रयोग द्वारा विपय को अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

ओजपूर्ण शैली :—इस शैली मे उनके मौलिक निवन्ध लिखे गये है। ओज की प्रधानता है। वाक्यो का गठन सुन्दर है। भापा व्यावहारिक है।

उनकी भाषा सवल, सजीव, साहित्यिक, प्रौढ एव प्राजल है। सस्कृत के तत्सम शब्दो का अधिक प्रयोग किया गया है। गभीर विषयो के विवेचन मे भाषा कठिन हो गयी है। कहावतो और मुहावरों का प्रयोग प्रायः नही किया गया है। शब्दो का चुनाव भावो और विचारों के अनुरूप किया गया है। भापा में गाभीर्य, प्रवाह और सौष्ठव सर्वत्र विद्यमान है।

हिन्दी में साहित्येतर विपयों के गभीर विवेचन के लिए वे सदैव स्मरणीय रहेंगे।

'शिक्षा का उद्देश्य' शीर्षक निबन्ध सम्पूर्णानन्द जी के **'भाषा की शक्ति'** नामक सग्रह से संकलित है। इस पाठ मे लेखक ने 'शिक्षा के उद्देश्य' पर मौलिक ढग से अपना विचार व्यक्त किया है और प्राचीन आदर्शो को ही सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। लेखक ने इस पाठ मे अध्यापको का कर्त्तव्य वताते हुए स्पष्ट किया है कि अध्यापक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य छात्रो मे चरित्र का विकास करना और उनमे लोक-कल्याण की भावना जाग्रत करना है।

लेखक के विचारों का स्रोत भारतीय दर्शन, विशेपत. गीता मे दिखायी देता है। उसने आत्मसाक्षात्कार पर वल दिया है। आत्मा अजर, अमर और आनन्दमयी

है। अपने स्वरूप को पहिचान लेने के पश्चात् कुछ पाना शेष नहीं रह जाता। आत्मसाक्षात्कार के लिए योगाभ्यास भी उपयोगी बताया गया है। एकाग्रता भी एक प्रकार का योगाभ्यास ही है। निष्काम कर्म के द्वारा भी हमे एकाग्रता उत्पन्न होती है और हमारी दृष्टि उदार बनती है। चित्त को क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाने के लिए काव्य, चित्र, संगीत और प्रकृति निरीक्षण को भी लेखक ने उपयोगी बतलाया है। व्यापक सौन्दर्य के प्रति भी प्रेम उत्पन्न करना लेखक ने अध्यापक का कर्त्तव्य बतलाया है। इस प्रकार उसने विद्यार्थी के चरित्र और सर्वांगीण व्यक्तित्व को विकसित करना ही लेखक का परम कर्त्तव्य माना है। इस महान् कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए समाज का सहयोग भी परम आवश्यक है।

शिक्षा का उद्देश्य

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है शिक्षा किसलिए दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतन्त्र नही है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है, पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नही है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसी के आधार पर उसकी राजनैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बडी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकरायेंगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलायेगी और मनुष्य के लिए अपना कर्त्तव्य स्थिर करना कठिन हो जायगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ रहा है। चोरी करना बुरा है, पर पराये देश का शोषण करना बुरा नही। झूठ बोलना बुरा है, पर राजनैतिक क्षेत्र में सच बोलने पर पड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ वर्ताव करने के लिए अलग-अलग आचारावलियाँ बन गयी हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है। पग-पग पर धर्म-संकट में पड

जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसी में है कि खूब सोच-विचार कर एक व्यापक दार्शनिक मत अंगीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नींव बनाया जाय। यह असंभव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमान काल में रूस ने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक सूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की संभावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिए स्थान नही है। मैं यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराने काल में अपने लिए आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भंडार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहाँ शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते है वहाँ आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसी से अपने को अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ-साथ अल्प शक्तिमत्ता आती है और इसका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है; परन्तु यह नही समझ में आता कि क्या खो गया है। उसे खोयी हुई वस्तु की, अपने स्वरूप की, निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है, कभी इस विषय की ओर दौड़ता है, कभी उसकी ओर, परन्तु किसी की प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती; क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नही है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वह राजनीतिक,

आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिससे पुरुपार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम से कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज्य नही कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिए गुरु ढूँढ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्त्तव्य है कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना आवश्यक है; वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नही है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ रही है, पर उसे इसका पता नही। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीजों में ढूँढती है। जब कोई अभिलपित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिए सुख का अनुभव होता है; परन्तु थोड़ी ही देर बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कही मिलता नही। सब इसी खोज मे है। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराये रह नही सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य मुठभेड़ होगी। चीज का उपयोग तो कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढते रहते है। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।

एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री और दुःख देखकर दुःखी होना करुणा है। किसी को अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों-ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों-त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी रागद्वेष को नष्ट करता है। ये वाते हँसी-खेल नहीं हैं; परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है। निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थ-साधन, लोक-संग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किये जायँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिए सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है: भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रूषा करते समय कुछ देर के लिए उसके साथ तन्मयता हो जाती है, 'मैं' 'पर' का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। 'मैं' 'तू' के कृत्रिम भदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही वड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिए यह तो नहीं हो सकता कि लोग आये दिन डूबा और जला करें या भूख-प्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी नही होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की ही नही, जीव मात्र की करनी है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, संगीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बंधन ढीले पड़ गये होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिए किया जाता है, परन्तु वह शान्त रस का भी उद्दीपन करता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि छात्र मे सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से प्रयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह 'मैं' 'तू' के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक साम्य की आकांक्षा होगी। वह वस्तु मेरी होकर रहे— इसी में संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नही हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोले—धर्माचरण करें, उपासना करे, लोगों के दु.ख-निवारण करे, इसमें कोई झगड़ा नही है। परन्तु इस वस्तु को मै लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक वस्तु का उपयोग एक समय में प्राय: एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश मे तारे खिले हों, फूलों के सुवास से लदी समीर वह रही हो, इनके सुख को युगपत् हजारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्यपाठ से मुझको आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्कशास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नही है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी है। अपना कल्याण समाज के

कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में ही रहकर होता है और बहुत से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिए समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अंग हैं उनमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी। इन सबका हम पर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिए सबके प्रति हमारा कर्त्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिए छोड़ गये हैं उनका लोप न होने पाये—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाय। इसलिए हमारे कर्त्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्त्तव्य-राशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिए लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता है। यदि धर्मबुद्धि जगायी जाय और सब अपने-अपने कर्त्तव्यों में तत्पर हो जायँ तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाँय। और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी ओर कम, और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है जब चित्त में सत्य के लिए निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं, पर शर्त यह है कि ज्ञान औषधि की घूंट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिए अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिए। वह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इनसे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त

में जिज्ञासा-ज्ञान का आदर होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिए सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा। सौंदर्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथ्वी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नही कि सव संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नही होता। व्यापार, शासन, कुटुम्ब के क्षेत्रों मे भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों मे राग-द्वेप का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो नि.संदेह होगा कि बहुत से लोग ठीक राह पर लग जायँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन गलतियों की सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना वुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही वड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नही उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश मे कलह मचा रहता हो, जिस समाज में गरीव-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकार कर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो उसके अध्यापक भला क्या करे। जिन घरों मे दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, माँ-बाप में मार-पीट, गाली-गलौज मची रहती हो, उसके वच्चों को पालने ही में मानस-विष दे दिया जाता है। तग गलियों और गदे घरों के रहने वाले; जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले है, सौन्दर्य को जल्दी नही समझ पाते। ऐसी

दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नही रह सकता। उसको तो अपना कर्त्तव्य पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता, पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है—अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर देह पायी है और मेरे पास छात्र रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में बल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण करना भी पड़ा तो वह जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय वह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतन्त्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को जोड़ना चाहती है, पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने ज्ञान-शक्ति आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार वह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा। इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटने के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिए इसमें जगह नही है। अध्यापक का जो कर्त्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता

था। शिष्य को ब्रह्म-विद्या का पात्र और यजमान को दिव्यलोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वह धर्म-गुरु रहे, न पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिए कर्त्तव्यच्युत हो जायँ? हमको अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

—डॉ० सम्पूर्णानन्द

प्रश्न-अभ्यास

१. आधुनिक युग मे शिक्षा का क्या उद्देश्य आप रखना पसद करेगे? तर्क सहित उत्तर दीजिए।
२. 'मनुष्य को पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है', इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं?
३. लेखक के विचार से मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुपार्थ क्या है?
४. शिक्षा किस प्रकार चरित्र-निर्माण मे सहायक होती है? अध्यापको को अपने छात्रों मे किन-किन गुणो का विकास करना चाहिए?
५. 'निष्कामिता' का क्या तात्पर्य है? चित्त को वासनाओ से विरत करने के लेखक ने कौन-कौन से साधन बताये हैं?
६. अध्यापक को अपने शिष्य मे धर्म की प्रवृत्ति क्यो जाग्रत करनी चाहिए? 'धर्म' की व्यापकता को लेखक ने किस प्रकार स्पष्ट किया है?
७. किस प्रकार के मनोभाव को उत्पन्न करने के लिए लेखक ने समाज की सहायता को आवश्यक माना है?
८. हमारी सामाजिक दशा का शिक्षक और विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ता है?
९. शिक्षक के अंतर मे कौन-कौन से भाव होने चाहिए? उन्हे किन आदर्शों की सिद्धि के लिए निरंतर जागरूक रहना चाहिए?
१०. निम्नलिखित वाक्यों का अभिप्राय स्पष्ट कीजिए :—
   (अ) 'प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ रही है, पर उसे इसका पता नही।'
   (आ) 'एकाग्रता ही आत्मसाक्षात्कार की कुंजी है।'

११. व्याख्या कीजिए :—

(अ) 'पुरुपार्थ दार्शनिक विषय है'....'तमाशा आज दीख पड़ रहा है।'

(ब) 'आत्मा अजर'.....'खोज जारी रहेगी।'

(स) 'निष्कामिता की कुंजी'....'उपलब्धि होगी।'

१२. प्रस्तुत पाठ के आधार पर लेखक की शैली की आलोचना कीजिए।

१३. "शिक्षा का उद्देश्य" शीर्षक पर एक निबन्ध लिखिए।

रायकृष्णदास (सन् १८९२)

रायकृष्णदास का जन्म काशी के प्रसिद्ध राय परिवार मे हुआ है। यह परिवार अपने कला, सस्कृति और साहित्य के लिए विख्यात है। भारतेन्दु-परिवार से सम्वन्धित होने के कारण राय साहव के पिता में अटूट हिन्दी-प्रेम था। इस प्रकार राय साहव को हिन्दी-प्रेम पैतृक दाय के रूप मे प्राप्त हुआ है।

राय साहव की स्कूली शिक्षा वहुत स्वल्प हुई। पर उनमें उत्कट ज्ञान-लिप्सा थी। उन्होने स्वतन्त्र रूप से हिन्दी, संस्कृत तथा अग्रेजी भाषाओ का अध्ययन किया और इनमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। उनकी साहित्यिक रुचि के विकास मे काशी का तत्कालीन वातावरण भी बहुत दूर तक प्रेरक रहा है। साहित्यिक गति-विधियो के कारण वहुत प्रारभ में ही उनकी घनिष्ठता श्री जयशकर प्रसाद, श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख कवियो-आलोचको से हो गयी। कुछ समय वाद वे काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के कार्यक्रमो मे भी प्रमुख रूप से हाथ वँटाने लगे।

भारतीय कला-आदोलन मे राय साहव का अप्रतिम स्थान है। उन्होने 'भारत कला भवन' नामक एक विशाल सग्रहालय की स्थापना की थी जो अव काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का एक विभाग है। इस सग्रहालय की गणना ससार के प्रमुख संग्रहा-लयो मे की जाती है। उन्होने भारतीय कलाओ का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है। **भारत की चित्रकला** तथा **भारतीय मूर्ति कला** उनके प्रामाणिक ग्रंथ हैं। प्राचीन भारतीय भूगोल एवं पौराणिक वशावली पर उन्होने विद्वत्तापूर्ण शोध निवन्ध प्रस्तुत किये हैं।

राय साहव ने परपरागत व्रजभाषा मे कविताएँ लिखी है, जो **व्रजरज** मे सगृहीत हैं। उनके **भावुक** नामक खडीबोली काव्य-सग्रह पर छायावाद का स्पष्ट प्रभाव है। राय साहव हिन्दी-साहित्य मे अपने गद्यगीतों के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके गद्यगीतो के संग्रह **साधना** और **छायापथ** के नाम से प्रकाशित हैं। **संलाप**, और **प्रवाल** में इनके संवादशैली के निवध संगृहीत हैं। आपकी कहानियाँ

अनाख्या, सुधांशु और आँखों की थाह नामक संग्रहों में संकलित हैं। उन्होंने खलील जिब्रान के 'दि मैड मैन' का पगला नाम से हिन्दी मे सुन्दर अनुवाद किया है। कोमल भावनाओं को सजीव शब्दों में प्रकट करना राय साहब की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषता है। उनकी गद्य-शैली भावात्मक, सांकेतिक और कवित्वपूर्ण है। उन्होने हिन्दी-गद्य को एक नया आयाम प्रदान करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। हिन्दी मे गद्यगीत की विधा का प्रवर्त्तन राय साहब ही ने किया। आधुनिक-युग को गद्य का युग कहा जाता है, जिसकी विशेषता यह है कि गद्य ने अपनी शक्ति के द्वारा पद्य को भी आत्मसात् कर लिया है। वास्तव मे गद्य व पद्य को पूर्णतः पृथक् नही किया जा सकता। इसका प्रमाण हमे इनके गद्यगीतो मे मिलता है। इन गीतों मे पद्य की तरह तुक तो नही है परन्तु लय और सगीत पूर्णत. विद्यमान है। शब्द-चयन, वाक्य-विन्यास और अलकारों के प्रयोग ने इन गद्यगीतो को भव्यता प्रदान कर दी है। आत्मा और प्रकृति के सौन्दर्य का प्रकाश इन गद्यगीतों मे बिखरा हुआ दिखलायी पड़ता है। ये गीत सरल, सुगम और आकार मे लघु हैं। काव्य की जटिलता से ये दूर है। इन्हे भले ही गाया न जा सके पर गुनगुनाया जा सकता है।

राय साहब की भाषा-शैली कवित्वपूर्ण होते हुए भी सहज और सरल है। न तो उसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो का आग्रह है और न ही बोलचाल के सामान्य शब्दो की उपेक्षा। इसी प्रकार उनके वाक्य-विन्यास में भी कोई जटिलता नही है। अलंकरण का प्रयोग सहज रूप मे हुआ है, किसी बनावट के साथ नही। मीरा के गीतो के समान भावुक हृदय की सहज अनुभूतियाँ इन गीतों मे प्रकट हुई है।

रायकृष्णदास अपने गद्य-काव्य की मधुर एवं रमणीय शैली द्वारा पर्याप्त कीर्ति अर्जित कर चुके है। 'साधना' के निबंधो मे जीव और परमात्मा के वीच की क्रीड़ाओं के रेखांकन मे राय साहब को अभूतपूर्व सफलता मिली है। इन निबधों मे मनमोहक ढंग से प्रिय और प्रिया की आँखमिचौनी के सजीव चित्र प्रस्तुत हुए हैं।

जीवात्मा अनादिकाल से उस असीम की प्रकृति मे क्रीड़ारत है। इस क्रीडा का कोई छोर नहीं है। वह अनंत है। समूची प्रकृति, पशु, पक्षी उसके निर्देशन मे कार्यरत है। निबधकार प्रकृति के प्रत्येक अवयव मे उस असीम का आभास पाकर प्रफुल्लवदन हो जाता है।

प्राय. लोग आनन्द की खोज वस्तुजगत् मे करते है। उनकी यह खोज पता

नहीं कितने जन्मों से चल रही है। लेकिन एक पल के लिए भी मनुष्य यदि अपने भीतर निहार ले तो निश्चित रूप से आनंद के अक्षय स्रोत का पता लग जायेगा। मनुष्य अशेष सृष्टि के साथ ज्योंही आत्मीय सम्बन्ध स्थापित कर लेता है त्योंही उसे अपने सही स्वरूप का बोध हो जाता है। इस संसार का प्रत्येक व्यक्ति एक भ्रात पथिक है। वह अशेष सुख और आनन्द की तलाश मे है। उसकी तलाश निरंतर जारी है। लेकिन वह पूर्ण सुख और आनंद की खोज के लिए जिस कल्पना लोक के स्वप्न रचता है, उस रचना का मुख्याधार यही वस्तुजगत् है। हम वस्तुजगत् के आधार पर ही कल्पना करते हैं। हमारी कल्पना समाज एव बाह्य परिवेश से निरपेक्ष नही होती। अतः दूसरे लोक की कल्पना करते समय इस जगत् से कट जाना भ्राति है। सच्चाई तो यह है कि इस जगत् के भीतर ही हमें पूर्ण सुख और आनंद की प्राप्ति हो सकती है, वशर्ते हम अपने सही स्वरूप को जानने का प्रयास करे।

आनन्द की खोज, पागल पथिक

आनन्द की खोज--

आनन्द की खोज में मैं कहाँ-कहाँ न फिरा? सब जगह से मुझे उसी भाँति कलपते हुए निराश लौटना पड़ा जैसे चन्द्र की ओर से चकोर लड़खड़ाता हुआ फिरता है।

मेरे सिर पर कोई हाथ रखने वाला न था और मैं रह-रहकर यही बिलखता कि जगन्नाथ के रहते भी मैं अनाथ कैसे रहता हूँ, क्या मैं जगत् के बाहर हूँ?

मुझे यह सोचकर अचरज होता कि आनन्द-कन्द-मूलक इस विश्व वल्लरी में मुझे आनन्द का अणुमात्र भी न मिले! हा! आनन्द के बदले में रुदन और शोच को परिपोषित कर रहा था।

अन्त को मुझसे न रहा गया। मैं चिल्ला उठा---आनन्द, आनन्द कहाँ है आनन्द! हाय! तेरी खोज में मैंने व्यर्थ जीवन गँवाया। बाह्य प्रकृति ने मेरे शब्दों को दुहराया, किन्तु मेरी आन्तरिक प्रकृति स्तब्ध थी। अतएव मुझे अतीव आश्चर्य हुआ। पर इसी समय ब्रह्माण्ड का प्रत्येक कण सजीव होकर मुझसे पूछ उठा---क्या कभी अपने-आप में भी देखा था? मैं अवाक् था।

सच तो है। जब मैंने---उसी विश्व के एक अंश---अपने-आप तक मे न खोजा था तब मैंने यह कैसे कहा कि समस्त सृष्टि छान डाली? जो वस्तु मैं ही अपने आपको न दे सका वह भला दूसरे मुझे क्यों देने लगे?

परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका था वह मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से मिली, जो मुझे अखिल ब्रह्माण्ड से न मिली थी वह अपने-आप में मिली!

*　　*　　*

पागल पथिक—

'पथिक'—मैंने पूछा—'तुम कहाँ से चले हो और कहाँ जा रहे हो? तुम्हारी यात्रा तो लम्बी मालूम पड़ती है क्योंकि तुम्हारा तन सूख कर काँटा हो रहा है और उस पर का फटा वस्त्र तुम्हारे विदीर्ण हृदय की साख भर रहा है। श्रम से हारकर तुम्हारे पैर फूट-फूटकर रक्त के आँसू रो रहे हैं! यह बात क्या है?'

उसने दैन्य से दाँत निकालकर उत्तर दिया—'बन्धु मैं अपना मार्ग भूल गया हूँ। इस संसार के बाहर एक ऐसा स्थान है जहाँ इसके सुख और विलास की समस्त सामग्रियाँ तो अपने पूर्ण सौन्दर्य में मिलती हैं पर दु:ख का वहाँ लेश भी नहीं है। मेरे गुरु ने मुझे उसका ठीक पता बताया था और मैं चला भी था उसी पर। किन्तु मुझसे न जाने कौन सी भूल हो गयी है कि मैं घूम फिरकर बारंवार यहीं आ जाता हूँ। जो हो, मैं कभी न कभी वहाँ अवश्य पहुँचूँगा।'

मैंने सखेद कहा—'हाय! तुम भारी भूल में पड़े हो। भला इस विश्व-मण्डल के बाहर तुम जा कैसे सकते हो? तुम जहाँ से चलोगे फिर वहीं पहुँच जाओगे। यह तो घटाकार न है। फिर, तुम उस स्थान की कल्पना तो इसी आदर्श पर करते हो और जब तुम्हें इस भूल ही में सुख नहीं मिलता तब अनुकरण में उसे कैसे पाओगे? मित्र, यहाँ तो सुख के साथ दु:ख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग में भी एक सुख है। जब उसे ही नही पा सकते तब वहाँ का निरन्तर सुख तो तुम्हें एक अपरिवर्तनशील बोझ, नहीं यातना हो जायगी। अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ? तुम्हारी यह कल्पना और संकल्प नितान्त मिथ्या और निस्सार है, और इसे छोड़ने ही में तुम्हें इतना सुख मिलेगा कि तुम छक जाओगे।'

परन्तु उसने मेरी एक न सुनी और अपनी राम-पोटरिया उठाकर चलता बना।

—रायकृष्णदास

प्रश्न-अभ्यास

१. गद्यगीत से आप क्या समझते हैं ? एक श्रेष्ठ गद्यगीत की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

२. लेखक को आनन्द की अनुभूति किस स्थिति मे हुई ?

३. पागल पथिक का गन्तव्य क्या था ? क्या कोई पथिक इस विश्वमडल के बाहर जा सकता है ?

४. निम्नलिखित वाक्यांशों की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'आनन्द के बदले में रुदन और शोच को परिपोपित कर रहा था'।

(ख) 'परन्तु, यहाँ तो जो वस्तु मैं अपने-आपको न दे सका था, वह मुझे ब्रह्माड से मिली, जो मुझे अखिल ब्रह्माड से न मिली थी वह अपने-आप मे मिली !'

(ग) 'यहाँ तो सुख के साथ दुख लगा है और उससे सुख को अलग कर लेने के उद्योग मे भी एक सुख है।'

(घ) 'अरे, बिना नव्यता के सुख कहाँ ?'

५. 'आनन्द की खोज, पागल पथिक' उपशीर्षकों के मूल प्रतिपाद्य पर विचार कीजिए।

६. प्रस्तुत निवन्ध के आधार पर रायकृष्णदास की भाषा-शैली की सक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३)

हिन्दी के महान् उपासक राहुल जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य की बहुमुखी सेवा की है। उनका अध्ययन जितना विशाल था, साहित्य-सृजन भी उतना ही विराट् था। वे छत्तीस एशियाई और योरोपीय भाषाओ के ज्ञाता थे और लगभग १५० ग्रथों का प्रणयन करके उन्होने राष्ट्रभाषा के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

राहुल जी का जन्म अपने नाना प० रामशरण पाठक के यहाँ पन्दहा ग्राम जिला आजमगढ में हुआ था। उनके पिता प० गोवर्धन पाडे एक कट्टर धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। वे कनैला ग्राम मे रहते थे। राहुल जी का बचपन का नाम केदार था। सकृति उनका गोत्र था। इसी के आधार पर वे साकृत्यायन कहलाये। बौद्ध धर्म में आस्था होने पर उन्होने अपना नाम बदल कर महात्मा बुद्ध के पुत्र के नाम पर 'राहुल' रख लिया। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा रानी की सराय, और फिर निजामाबाद में हुई जहाँ से उन्होने सन् १९०७ में उर्दू मिडिल पास किया। इसके उपरान्त उन्होने संस्कृत की उच्च शिक्षा वाराणसी मे प्राप्त की। यही उनमे पालि-साहित्य के प्रति अनुराग उत्पन्न हुआ। 'केदारनाथ' के पिता की इच्छा थी कि वे आगे भी पढे पर उनका मन कही और था। उन्हे घर का बन्धन अच्छा न लगा। वे घूमना चाहते थे। उनकी इस प्रवृत्ति के कई कारण थे। उनके नाना प० रामशरण पाठक सेना मे सिपाही रहे थे और उस जीवन में दक्षिण भारत की खूब यात्रा की थी। इस विगत जीवन की कहानियाँ वे बालक केदार को सुनाया करते थे, जिसने उसके मन में यात्रा-प्रेम को अकुरित कर दिया। इसके बाद उन्होने अपनी एक उर्दू पाठ्य पुस्तक (मौलवी इस्माईल की उर्दू की चौथी किताब) पढी थी, जिसमे यह एक शेर था—

सैर कर दुनिया की गाफ़िल जिन्दगानी फिर कहाँ।
जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ॥

इस शेर के सन्देश ने बालक केदार के मन पर गहरा प्रभाव डाला। इसके द्वारा उनके घुमक्कड़ी जीवन का सूत्रपात हुआ, और आगे चलकर उन्होने बाकायदा घुमक्कड़ो के निर्देशन के लिए 'घुमक्कड़ शास्त्र' ही लिख डाला।

राहुल जी की पाठशाला और विश्वविद्यालय यही घुमक्कड़ी जीवन था। उन्होंने न तो कभी विधिवत् अध्ययन ही किया और न ही विधिवत् लेखन। अपनी आत्मकथा **'मेरी जीवन यात्रा'** मे उन्होंने लिखा है कि वे मैट्रिक पास करने से असहमत थे और **"ग्रेजुएट तो क्या विश्वविद्यालय के चौखटे के भीतर भी कदम नहीं रखा।"** वे बड़े मुक्त विचारों के व्यक्ति थे, जैसा कि उन्होने लिखा भी है **"बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये फिरने के लिए।"**

राहुल जी के यात्रा-विवरण अत्यन्त रोचक, रोमांचक, शिक्षाप्रद, उत्साहवर्द्धक और ज्ञान-प्रेरक हैं। इनसे उनका गहरा विद्यानुराग प्रकट होता है। उन्होंने पाँच-पाँच बार तिब्बत, लंका और सोवियत भूमि की यात्रा की थी। छः मास योरोप में रहे थे। एशिया को उन्होंने जैसे छान ही डाला था। कोरिया, मचूरिया, ईरान, अफगानिस्तान, जापान, नेपाल, बद्रीनाथ-केदारनाथ, कुमायूँ-गढ़वाल, केरल-कर्नाटक, कश्मीर-लद्दाख आदि के पर्यटन को उनकी दिग्विजय कहने में कोई अत्युक्ति न होगी। उनकी मुख्य यात्रा-रचनाएँ हैं—**'लंका', 'तिब्बत-यात्रा', 'जापान', 'ईरान',** और **'रूस में पच्चीस मास'**।

राहुल जी के कुछ अन्य प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं—१. **वोल्गा से गंगा** (कहानी संग्रह) २. **सिंह सेनापति** और ३. **जय यौधेय** (उपन्यास), ४. **मेरी जीवन यात्रा** (आत्म-कथा), ५. **दर्शन दिग्दर्शन** (दर्शन) ६. **विश्व की रूपरेखा** (विज्ञान) ७. **मध्य एशिया का इतिहास** (इतिहास), तथा ८. **शासन शब्द-कोश**, ९. **राष्ट्रभाषा कोश** और १०. **तिब्बती हिन्दी कोश**।

राहुल जी की भाषा शैली मे कोई बनावट या साहित्य-रचना का प्रयास नही है। सामान्यतः संस्कृतनिष्ठ परन्तु सरल और परिष्कृत भाषा को ही उन्होंने अपनाया है। न तो संस्कृत के क्लिष्ट या समासयुक्त शब्दों को उन्होने प्रश्रय दिया है और न ही लम्बे-लम्बे वाक्यों को। उनका सम्पूर्ण साहित्य, चाहे दर्शन हो और चाहे यात्रा-विवरण, चिन्तन से पूर्ण होकर भी सरल और सुगम है जिससे उनके महान्-मुक्त व्यक्तित्व की झाँकी प्राप्त होती है। संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी आप जनसाधारण की भाषा में लिखने के पक्षपाती थे।

प्रस्तुत लेख राहुल जी की पुस्तक 'घुमक्कड़ शास्त्र' से लिया गया है। वे भारतीय साहित्यकारों मे सबसे अधिक घुमक्कड अर्थात् पर्यटनशील रहे हैं। इसीलिए उनका जीवन-अनुभव बड़ा व्यापक और व्यावहारिक था। इस लेख मे उन्होने घुमक्कड़ी की महिमा किसी शास्त्र से कम नही मानी है और उसका गौरव शास्त्र के समान ही स्थापित किया है। उन्होने आदिमकाल से लेकर आधुनिक काल तक के अनेक महापुरुषो की सफलता का रहस्य घुमक्कड़ी मे सिद्ध किया है। घुमक्कड़ो ने ससार की प्रगति के सभी क्षेत्रों मे महान् योगदान किया है—विज्ञान, भूगोल, धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति आदि सभी ज्ञान-क्षेत्रो मे उनकी मौलिक देन निर्विवाद है। इसकी पुष्टि मे लेखक ने डार्विन, कोलम्बस, वास्को डि गामा, बुद्ध, महावीर, शकराचार्य, रामानुज, रामानन्द और ऋषि दयानन्द आदि के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि घुमक्कड़ी से प्राप्त होने वाला ज्ञान ग्रंथ-ज्ञान से भी बढकर होता है।

अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

संस्कृत से ग्रंथ को शुरू करने के लिए पाठकों को रोष नहीं होना चाहिए। आखिर हम शास्त्र लिखने जा रहे हैं, फिर शास्त्र की परिपाटी को मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों मे जिज्ञासा ऐसी चीज के लिए होनी बतलायी गयी है, जो कि श्रेष्ठ तथा व्यक्ति और समाज के लिए परम हितकारी हो। व्यास ने अपने शास्त्र में ब्रह्मा को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे जिज्ञासा का विषय बनाया। व्यास-शिष्य जैमिनी ने धर्म को श्रेष्ठ माना। पुराने ऋषियों से मतभेद रखना हमारे लिए पाप की वस्तु नहीं है, आखिर छ शास्त्रों के रचयिता छ. आस्तिक ऋषियों में भी आधों ने ब्रह्मा को धाता वता दी है। मेरी समझ में दुनिया की सर्वश्रेष्ठ वस्तु है घुमक्कड़ी। घुमक्कड़ से बढकर व्यक्ति और समाज का कोई हितकारी नही हो सकता। कहा जाता है, ब्रह्मा को सृष्टि करने के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण सहायक हो सकता है, न अनुमान ही। हाँ, दुनिया के धारण की वात तो निश्चय ही न ब्रह्मा के ऊपर है, न विष्णु के और न शंकर ही के ऊपर। दुनिया दुख में हो चाहे सुख में सभी समय यदि सहारा पाती है तो घुमक्कड़ों की ही ओर से। प्राकृतिक आदिम मनुष्य परम घुमक्कड़ था। खेती, बागवानी तथा घरद्वार से मुक्त वह आकाश के पक्षियों की भाँति पृथ्वी पर सदा विचरण करता था, जाड़े मे यदि इस जगह था तो गर्मियों मे वहाँ से दो सौ कोस दूर।

आधुनिक काल में घुमक्कड़ों के काम की वात कहने की आवश्यकता है, क्योंकि लोगों ने घुमक्कड़ों की कृतियों को चुरा के उन्हें गन्ना फाड़-फाड़कर अपने नाम से प्रकाशित किया, जिससे दुनिया

जानने लगी कि वस्तुतः तेली के कोल्हू के बैल ही दुनिया में सब कुछ करते है। आधुनिक विज्ञान में चार्ल्स डारविन का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्राणियों की उत्पत्ति और मानव-वंश के विकास पर ही अद्वितीय खोज नही की, बल्कि कहना चाहिए कि सभी विज्ञानों को डारविन के प्रकाश में दिशा बदलनी पड़ी। लेकिन, क्या डारविन अपने महान् आविष्कारों को कर सकता था, यदि उसने घुमक्कड़ी का व्रत न लिया होता ?

मै मानता हूँ, पुस्तकें भी कुछ-कुछ घुमक्कडी का रस प्रदान करती हैं, लेकिन जिस तरह फोटो देखकर आप हिमालय के देवदारु के गहन वनों और श्वेत हिम-मुकुटित शिखरों के सौन्दर्य, उनके रूप, उनकी गंध का अनुभव नही कर सकते, उसी तरह यात्रा-कथाओं से आपको उस बूँद से भेट नही हो सकती जो कि एक घुमक्कड़ को प्राप्त होती है। अधिक से अधिक यात्रा-पाठकों के लिए यही कहा जा सकता है कि दूसरे धन्धों की अपेक्षा उन्हें थोड़ा आलोक मिल जाता है और साथ ही ऐसी प्रेरणा भी मिल सकती है जो स्थायी नही तो कुछ दिनों के लिए तो उन्हे घुमक्कड़ बना ही सकती है। घुमक्कड़ क्यों दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है ? इसीलिए कि उसी ने आज की दुनिया को बनाया है। यदि आदिम पुरुष एक जगह नदी या तालाब के किनारे गर्म मुल्क में पड रहते, तो वह दुनिया को आगे नही ले जा सकते थे। आदमी की घुमक्कड़ी ने बहुत बार खून की नदियाँ बहायी हैं, इसमें संदेह नही, और घुमक्कड़ों से हम हरगिज नहीं चाहेंगे कि वे खून के रास्ते को पकड़ें, किन्तु घुमक्कड़ों के काफले न आते जाते, तो सुस्त मानव जातियाँ सो जातीं और पशु से ऊपर नही उठ पातीं। आदिम घुमक्कड़ों में से आर्यों, शकों, हूणों ने क्या-क्या किया, अपने खूनी पंथों द्वारा मानवता के पथ को किस तरह प्रशस्त किया, इसे इतिहास में हम उतना स्पष्ट वर्णित नही पाते, किन्तु मंगोल घुमक्कड़ों की करामातों को तो हम अच्छी तरह जानते है। बारूद, तोप, कागज, छापाखाना, दिग्दर्शक चश्मा

यही चीजें थीं, जिन्होंने पश्चिम में विज्ञान युग का आरंभ कराया और इन चीजों को वहाँ ले जाने वाले मंगोल घुमक्कड़ थे।

कोलम्बस और वास्को डि गामा दो घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने पश्चिमी देशों के आगे बढ़ने का रास्ता खोला। अमेरिका अधिकतर निर्जन सा पड़ा था। एशिया के कूप-मंडूकों को घुमक्कड़ धर्म की महिमा भूल गयी, इसलिए उन्होंने अमेरिका पर अपनी झंडी नहीं गाड़ी। दो शताब्दियों पहले तक आस्ट्रेलिया खाली पड़ा था। चीन और भारत को सभ्यता का बड़ा गर्व है, लेकिन इनको इतनी अक्ल नहीं आयी कि जाकर वहाँ अपना झंडा गाड़ आते। आज अपने ४०-५० करोड़ की जनसंख्या के भार से भारत और चीन की भूमि दबी जा रही है, और आस्ट्रेलिया में एक करोड़ भी आदमी नहीं हैं। आज एशियाइयों के लिए आस्ट्रेलिया का द्वार बन्द है, लेकिन दो शती पहले वह हमारे हाथ की चीज थी। क्यों भारत और चीन, आस्ट्रेलिया की अपार संपत्ति और अमित भूमि से वंचित रह गये? इसीलिए कि घुमक्कड़ धर्म से विमुख थे, उसे भूल चुके थे।

हाँ, मैं इसे भूलना ही कहूँगा, क्योंकि किसी समय भारत और चीन ने बड़े-बड़े नामी घुमक्कड़ पैदा किये: वे भारतीय घुमक्कड़ ही थे, जिन्होंने दक्षिण पूरब में लंका, बर्मा, मलाया, यवद्वीप, स्याम, कम्बोज, चम्पा, बोर्नियो और सैलीबीज ही नही, फिलिपाइन तक का धावा मारा था, और एक समय तो जान पड़ा कि न्यूजीलैंड और आस्ट्रेलिया भी बृहत्तर भारत के अंग बनने वाले हैं। लेकिन कूप-मंडूकता तेरा सत्यानाश हो। इस देश के बुद्धुओं ने उपदेश करना शुरू किया कि समुन्दर के खारे पानी और हिन्दू धर्म में बड़ा बैर है, उसे छूने मात्र से वह नमक की पुतली की तरह गल जायगा। इतना बतला देने पर क्या कहने की आवश्यकता है कि समाज के कल्याण के लिए घुमक्कड़ धर्म कितनी आवश्यक चीज है? जिस जाति या देश ने इस धर्म को अपनाया, वह चारों फलों का भागी हुआ, और जिसने इसे दुराया, उसको

नरक में भी ठिकाना नहीं। आखिर घुमक्कड़ धर्म को भूलने के कारण ही हम सात शताब्दियों तक धक्का खाते रहे, ऐरे-गैरे जो भी आये, हमें चार लात लगाते गये।

शायद किसी को संदेह हो कि मैंने इस शास्त्र में जो युक्तियाँ दी हैं, वे सभी तो लौकिक तथा शास्त्र-अग्राह्य हैं। अच्छा तो धर्म से प्रमाण लीजिए। दुनिया के अधिकांश धर्मनायक घुमक्कड़ रहे। धर्माचार्यों में आचार-विचार, बुद्धि और तर्क तथा सहृदयता में सर्वश्रेष्ठ बुद्ध घुमक्कड़-राज थे। यद्यपि वह भारत से वाहर नहीं गये लेकिन वर्ष के तीन मासों को छोड़कर एक जगह रहना वह पाप समझते थे। वह अपने आप ही घुमक्कड़ नही थे, वल्कि आरंभ में ही अपने शिष्यों से उन्होंने कहा था—'चरथ भिक्खवे, 'चरथ' जिसका अर्थ है—'भिक्षुओ! घुमक्कड़ी करो।' बुद्ध के भिक्षुओं ने अपने गुरु की शिक्षा को कितना माना, क्या इसे वताने की आवश्यकता है? क्या उन्होंने पश्चिम में मकदूनियाँ तथा मिस्र से पूरव में जापान तक, उत्तर में मंगोलिया से लेकर दक्षिण में वाली और वाँका के द्वीपों तक को रौंदकर रख नहीं दिया? जिस वृहत्तर भारत के लिए हरेक भारतीय को उचित अभिमान है, क्या उसका निर्माण इन्हीं घुमक्कड़ों की चरण धूलि ने नहीं किया? केवल वुद्ध ने ही अपनी घुमक्कड़ी से प्रेरणा नही दी, वल्कि घुमक्कड़ों का इतना जोर वुद्ध से एक-दो शताब्दियों पूर्व भी था, जिसके कारण ही वुद्ध जैसे घुमक्कड़-राज इस देश में पैदा हो सके। उस वक्त पुरुप ही नहीं, स्त्रियाँ तक जम्वू-वृक्ष की शाखा ले, अपनी प्रखर प्रतिभा का जौहर दिखातीं, वाद में कूप-मंडूकों को पराजित करती सारे भारत में मुक्त होकर विचरण करती थीं।

कई-कई महिलाएँ पूछती हैं—क्या स्त्रियाँ भी घुमक्कड़ी कर सकती हैं, क्या उनको भी इस महाव्रत की दीक्षा लेनी चाहिए? इसके वारे में तो अलग अध्याय ही लिखा जाने वाला है, किन्तु यहाँ इतना कह देना है कि घुमक्कड़ धर्म ब्राह्मण-धर्म जैसा संकुचित धर्म नही है, जिसमें

स्त्रियों के लिए स्थान न हो। स्त्रियाँ इसमें उतना ही अधिकार रखती हैं, जितना पुरुष। यदि वे जन्म सफल करके व्यक्ति और समाज के लिए कुछ करना चाहती है, तो उन्हें भी दोनों हाथों इस धर्म को स्वीकार करना चाहिए। घुमक्कड़ी धर्म छुड़ाने के लिए ही पुरुष ने बहुत से बंधन नारी के रास्ते लगाये हैं। बुद्ध ने सिर्फ पुरुषों के लिए घुमक्कड़ी करने का आदेश नही दिया, बल्कि स्त्रियों के लिए भी उनका यही उपदेश था।

भारत के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म भी है। जैन धर्म के प्रतिष्ठापक श्रवण महावीर कौन थे ? वह भी घुमक्कड़-राज थे। घुमक्कड़ धर्म के आचरण में छोटी से बड़ी तक सभी बाधाओं और उपाधियों को उन्होंने त्याग दिया था—घर-द्वार और नारी-संतान ही नहीं, वस्त्र का भी वर्जन कर दिया था। "करतल भिक्षा, तरुतल वास" तथा दिग्-अम्बर को उन्होंने इसीलिए अपनाया था कि निर्द्वन्द्व विचरण में कोई बाधा न रहे। श्वेताम्बर-बन्धु दिगम्बर कहने के लिए नाराज न हों। वस्तुतः हमारे वैज्ञानिक महान् घुमक्कड़ कुछ बातों में दिगम्बरों की कल्पना के अनुसार थे और कुछ बातों में श्वेताम्बरों के उल्लेख के अनुसार, लेकिन इसमे तो दोनों संप्रदायों और बाहर के मर्मज्ञ भी सहमत है कि भगवान महावीर दूसरी, तीसरी नहीं, प्रथम श्रेणी के घुमक्कड़ थे। वह आजीवन घूमते ही रहे। वैशाली में जन्म लेकर विचरण करते ही पावा में उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। बुद्ध और महावीर से बढ़कर यदि कोई त्याग, तपस्या और सहृदयता का दावा करता है, तो मैं उसे केवल दम्भी कहूँगा। आजकल कुटिया या आश्रम बनाकर तेली के बैल की तरह कोल्हू से बँधे कितने ही लोग अपने को अद्वितीय महात्मा कहते है या चेलों से कहलवाते हैं, लेकिन मै तो कहूँगा, घुमक्कड़ी को त्यागकर यदि महापुरुप वना जाता, तो फिर ऐसे लोग गली-गली मे देखे जाते। मैं तो जिज्ञासुओं को खबरदार कर देना चाहता हूँ कि वे ऐसे मुलम्मे वाले महात्माओं और महापुरुपों के फेर से वचे रहें। वे स्वयं तेली के बैल तो है ही, दूसरों को भी अपने ही जैसा बना रखेंगे।

बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों की घुमक्कड़ी की बात से यह नही मान लेना होगा कि दूसरे लोग ईश्वर के भरोसे गुफा या कोठरी में बैठकर सारी सिद्धियाँ पा गये या पा जाते हैं। यदि ऐसा होता तो शंकराचार्य, जो साक्षात् ब्रह्मस्वरूप थे, क्यों भारत के चारों कोनों की खाक छानते फिरे? शंकर को शंकर किसी ब्रह्म ने नही बनाया उन्हे बड़ा बनाने वाला था यही घुमक्कड़ी धर्म। शंकर बराबर घूमते रहे—आज केरल देश में थे तो कुछ ही महीने बाद मिथिला में और अगले साल काश्मीर या हिमालय के किसी दूसरे भाग में। शंकर तरुणाई में ही शिवलोक सिधार गये, किन्तु थोड़े से जीवन में उन्होंने सिर्फ तीन भाष्य ही नहीं लिखे, बल्कि अपने आचरण से अनुयायियों को वह घुमक्कड़ी का पाठ पढा गये कि आज भी उसके पालन करने वाले सैकड़ों मिलते है। वास्को दि गामा के भारत पहुँचने से वहुत पहले शंकर के शिष्य मास्को और यूरोप तक पहुँचे थे। उनके साहसी शिष्य सिर्फ भारत के चार धामों से ही सन्तुप्ट नही थे, वल्कि उनमें से कितनों ने जाकर बाकू (रूस) में धूनी रमायी। एक ने पर्यटन करते हुए वोल्गा तट पर निज्जी नोवोग्राद के महामेले को देखा।

रामानुज, मध्वाचार्य और वैष्णवाचार्यों के अनुयायी मुझे क्षमा करे, यदि मैं कहूँ कि उन्होंने भारत में कूप-मंडूकता के प्रचार में वड़ी सरगर्मी दिखायी। भला हो रामानंद और चैतन्य का, जिन्होंने कि पंक के पंकज बनकर आदिकाल से चले आते महान् घुमक्कड़ धर्म की फिर से प्रतिष्ठापना की, जिसके फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के तो नहीं, किन्तु द्वितीय श्रेणी के वहुत से घुमक्कड़ उनमें पैदा हुए। ये वेचारे बाकू की वडी ज्वालामई तक कैसे जाते, उनके लिए तो मानसरोवर तक पहुँचना भी मुश्किल था। अपने हाथ से खाना वनाना, मांस अंडे से छू जाने पर भी धर्म का चला जाना, हाड़-तोड़ सर्दी के कारण हर लघुशंका के वाद वर्फीले पानी से हाथ धोना और हर महाशंका के बाद स्नान करना तो यमराज को निमंत्रण देना होता, इसीलिए वेचारे

फूँक-फूँककर ही घुमक्कड़ी कर सकते थे। इसमें किसे उज्र हो सकता है कि शैव हो या वैष्णव, वेदान्ती हो या सैद्धान्ती, सभी को आगे बढ़ाया केवल घुमक्कड़ धर्म ने।

महान् घुमक्कड़-धर्म बौद्ध धर्म का भारत से लुप्त होना क्या था कि तब कूप-मंडूकता का हमारे देश में बोलबाला हो गया। सात शताब्दियाँ बीत गयीं और इन सातों शताब्दियों में दासता और परतंत्रता हमारे देश में पैर तोड़कर बैठ गयी। यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी, समाज के अगुओं ने चाहे कितना ही कूप-मंडूक बनाना चाहा, लेकिन इस देश मे ऐसे माई के लाल जब तक पैदा होते रहे, जिन्होंने कर्म-पथ की ओर संकेत किया। हमारे इतिहास में गुरु नानक का समय दूर का नहीं है, लेकिन अपने समय के वह महान् घुमक्कड़ थे। उन्होंने भारत-भ्रमण को ही पर्याप्त नहीं समझा, ईरान और अरब तक का धावा मारा, घुमक्कड़ी किसी बड़े योग से कम सिद्धिदायिनी नहीं है और निर्भीक तो वह एक नम्बर का बना देती है।

दूर शताब्दियों की बात छोड़िए, अभी शताब्दी भी नही बीती, इस देश से स्वामी दयानन्द को विदा हुए। स्वामी दयानन्द को ऋषि दयानन्द किसने बनाया ? घुमक्कड़ी धर्म ने। उन्होंने भारत के अधिक भागों का भ्रमण किया, पुस्तक लिखते, शास्त्रार्थ करते वह बराबर भ्रमण करते रहे। शास्त्रों को पढ़कर काशी के बड़े-बड़े पंडित महामंडूक बनने में ही सफल होते रहे, इसलिए दयानन्द को मुक्तबुद्धि और तर्कप्रधान बनाने का कारण शास्त्रों से अलग कहीं ढूँढना होगा, और वह है उनका निरन्तर घुमक्कड़ी धर्म का सेवन। उन्होंने समुद्र-यात्रा करने, द्वीप-द्वीपान्तरों मे जाने के विरुद्ध जितनी थोथी दलीले दी जाती थीं सबको चिंदी-चिंदी करके उड़ा दिया और बताया कि मनुष्य स्थावर वृक्ष नहीं है, वह जंगम प्राणी है। चलना मनुष्य का धर्म है, जिसने इसे छोड़ा वह मनुष्य होने का अधिकारी नही है।

बीसवीं शताब्दी के भारतीय घुमक्कड़ों की चर्चा करने की

आवश्यकता नही। इतना लिखने से मालूम हो गया होगा कि संसार में यदि अनादि सनातन धर्म है तो वह घुमक्कड़ धर्म है। लेकिन वह संकुचित सम्प्रदाय नहीं है, वह आकाश की तरह महान् है, समुद्र की तरह विशाल है। जिन धर्मो ने अधिक यश और महिमा प्राप्त की है, केवल घुमक्कड़ धर्म ही के कारण। प्रभु ईसा घुमक्कड़ थे, उनके अनुयायी भी ऐसे घुमक्कड़ थे, जिन्होंने ईसा के संदेश को दुनिया के कोने-कोने में पहुँचाया।

इतना कहने के वाद कोई संदेह नही रह गया कि घुमक्कड़ धर्म से-बढ़कर दुनिया में धर्म नहीं है। धर्म भी छोटी बात है, उसे घुमक्कड़ के साथ लगाना "महिमा घटी समुद्र की रावण बसा पड़ोस" वाली बात होगी। घुमक्कड़ होना आदमी के लिए परम सौभाग्य की बात है। यह पंथ अपने अनुयायी को मरने के बाद किसी काल्पनिक स्वर्ग का प्रलोभन नही देता, इसके लिए तो कह सकते है "क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ ले उस हाथ दे।" घुमक्कड़ी वही कर सकता है, जो निश्चिन्त है। किन साधनों से सम्पन्न होकर आदमी घुमक्कड़ बनने का अधिकारी हो सकता है, यह आगे बतलाया जायगा। किन्तु घुमक्कड़ी के लिए चिन्ताहीन होना आवश्यक है, और चिन्ताहीन होने के लिए घुमक्कड़ी भी आवश्यक है। दोनों का अन्योन्याश्रय होना दूषण नहीं भूषण है। घुमक्कड़ी से बढ़करसुख कहाँ मिल सकता है आखिर चिन्ताहीनता तो सुख का सबसे स्पष्ट रूप है। घुमक्कड़ी में कष्ट भी होते हैं लेकिन उसे उसी तरह समझिए, जैसे भोजन में मिर्च। मिर्च में यदि कड़वाहट न हो, तो क्या कोई मिर्च-प्रेमी उसन हाथ भी लगायेगा? वस्तुतः घुमक्कड़ी में कभी कभी होने वाले कड़वे अनुभव उसके रस को और बढ़ा देते है—उसी तरह जैसे काली पृष्ठ-भूमि में चित्र अधिक खिल उठता है।

व्यक्ति के लिए घुमक्कड़ी से बढकर कोई नकद धर्म नहीं है। जाति का भविष्य घुमक्कड़ी पर निर्भर करता है। इसलिए मैं कहूँगा

कि हरेक तरुण और तरुणी को घुमक्कड़ व्रत ग्रहण करना चाहिए, इसके विरुद्ध दिये जाने वाले सारे प्रमाणों को झूठ और व्यर्थ का समझना चाहिए। यदि माता-पिता विरोध करते है तो समझना चाहिए कि वह भी प्रह्लाद के माता-पिता के नवीन संस्करण है । यदि हितु-बान्धव वाधा उपस्थित करते है तो समझना चाहिए कि वे दिवांध है। यदि धर्माचार्य कुछ उल्टा सीधा तर्क देते है तो समझ लेना चाहिए कि इन्ही ढोगियों ने संसार को कभी सरल और सच्चे पथ पर चलने नही दिया। यदि राज्य और राजसी नेता अपनी कानूनी रुकावटें डालते हैं तो हजारों वार के तजुर्बा की हुई बात है कि महानदी के वेग की तरह घुमक्कड़ की गति को रोकनेवाला दुनिया में कोई पैदा नही हुआ। बड़े-बड़े कठोर पहरेवाली राज्य सीमाओं को घुमक्कड़ों ने आँख में धूल झोंक कर पार कर लिया। मैंने स्वयं ऐसा एक में अधिक बार किया है। 'पहली तिब्बत यात्रा में अंग्रेजों, नेपाल राज्य और तिब्बत के सीमा-रक्षकों की आँख में धूल झोंककर जाना पड़ा था।'

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि यदि कोई तरुणी-तरुण घुमक्कड धर्म की दीक्षा लेता है—यह में अवश्य कहूँगा कि यह दीक्षा वही ले सकता है जिसमें बहुत भारी मात्रा में हर तरह का साहस है—तो उसे किसी की वात नही सुननी चाहिए, न माता के आँसू बहने की परवाह करनी चाहिए, न पिता के भय और उदास होने की, न भूल से विवाह कर लायी अपनी पत्नी के रोने-धोने की और न किसी तरुणी को अभागे पति के कलपने की। बस, शंकराचार्य के शब्दों में यही समझना चाहिए—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः" और मेरे गुरु कपोतराज के वचन को अपना पथ प्रदर्शक बनाना चाहिए—

> "सैर कर दुनिया की गाफिल, जिन्दगानी फिर कहाँ ?
> जिन्दगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ ?"

—इस्माइल मेरठी

दुनिया में मानुष जन्म एक ही बार होता है और जवानी भी केवल एक ही बार आती है। साहसी और मनस्वी तरुण-तरुणियों को इस अवसर से हाथ नही धोना चाहिए। कमर बाँध लो भावी घुमक्कड़ो! संसार तुम्हारे स्वागत के लिए बेकरार है।

—राहुल सांकृत्यायन

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने घुमक्कड़ी को 'शास्त्र' मानने के लिए क्या तर्क दिये है ?
२. निम्नलिखित क्षेत्रों के घुमक्कड़ों के नाम बताइए —
विज्ञान, भूगोल, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, वेदान्त, वैष्णव धर्म, आर्य समाज और ईसाई मत।
३. लेखक ने अपनी निम्नलिखित मान्यताओ के बारे मे क्या तर्क दिये है :—
(क) पुस्तकें घुमक्कड़ी का पूरा रस प्रदान नही कर पाती।
(ख) घुमक्कड़ दुनिया की सर्वश्रेष्ठ विभूति है।
४. निम्नलिखित वाक्यो का आशय स्पष्ट कीजिए .—
(क) 'समुद्र के खारे पानी ···गल जायगा।'
(ख) 'वह सकुचित सम्प्रदाय ···समुद्र की तरह विशाल है।'
(ग) 'घुमक्कड़ी मे कष्ट भी ····खिल उठता है।'
५. कुटिया या आश्रम बनाकर बैठने वाले महात्माओ को लेखक ने 'तेली के बैल' क्यो कहा है ?
६ एशिया के कूप-मडूको से लेखक का क्या आशय है ? वे अमेरिका और आस्ट्रेलिया पर अपनी झडी किस प्रकार गाड सकते थे ?
७ ऋषि दयानन्द ने आधुनिक भारत की उन्नति मे किस प्रकार भाग लिया ?
८. आजकल आपको घुमक्कड़ी किन-किन रूपों मे दिखायी पडती है ?
९. लेखक ने घुमक्कडो मे किन गुणो का होना आवश्यक माना है ?
१०. घुमक्कड़ी के लिए किन-किन साधनो की आवश्यकता होती है ?

रामवृक्ष बेनीपुरी (सन् १९०२-१९६८)

रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म जनवरी सन् १९०२ मे बिहार में मुजफ्फरपुर जिले के बेनीपुर गाँव मे हुआ था। इनके पिता श्री फूलवन्त सिंह एक साधारण किसान थे। वचपन में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो गया और इनका लालन-पालन इनकी मौसी की देखरेख में हुआ। इनकी प्रारभिक शिक्षा बेनीपुर मे हुई। बाद मे उनकी शिक्षा उनके ननिहाल में भी हुई। मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व ही सन् १९२० में उन्होने अध्ययन छोड़ दिया और महात्मा गाँधी के नेतृत्व मे प्रारभ हुए असहयोग आन्दोलन मे वे कूद पड़े।

वे राष्ट्रसेवा के साथ-साथ साहित्य की भी साधना करते रहे। साहित्य की ओर उनकी रुचि 'रामचरित मानस' के अध्ययन से जाग्रत हुई। पन्द्रह वर्ष की आयु से ही ये पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के परिणामस्वरूप इनको अनेक वर्षो तक जेल की यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। सन् १९६८ मे इनका देहान्त हो गया।

वेनीपुरी ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं का सम्पादन किया है जिनमे से कुछ के नाम इस प्रकार है—१. वालक, २. तरुण भारती, ३. युवक, ४. किसान मित्र, ५. कैदी, ६. योगी, ७. जनता, ८. हिमालय, ९. नईधारा, १०. चुन्नू-मुन्नू।

वेनीपुरी जी ने उपन्यास, नाटक, कहानी, संस्मरण, निवंध, रेखाचित्र, आदि सभी गद्य-विधाओ पर अपनी कलम उठायी है। इनके कुछ प्रमुख ग्रथ निम्नलिखित है :—

उपन्यास—पतितों के देश में, रेखाचित्र—माटी की मूरतें, लालतारा, कहानी—चिता के फूल, नाटक—अंवपाली, निवंध—गेहूँ और गुलाव, वन्दे वाणीविनायको, मशाल, संस्मरण—जंजीरें और दीवारें, यात्रा वर्णन—पैरों में पंख बाँधकर।

वेनीपुरी जी के सम्पूर्ण साहित्य को 'वेनीपुरी ग्रंथावली' नाम से दस खण्डों मे प्रकाशित करने की योजना थी जिसके दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। निवंधों और रेखाचित्रो के लिए इनकी ख्याति सर्वाधिक है। माटी की मूरतें इनका श्रेष्ठ

रेखाचित्रों का संग्रह है जिसमे विहार के जनजीवन को पहचानने के लिए अच्छी सामग्री है। कुल १२ रेखाचित्र हैं और सभी एक से एक बढ़कर हैं।

बेनीपुरी जी के गद्य-साहित्य मे गहन अनुभूतियो एव उच्च कल्पनाओ की स्पष्ट झाँकी मिलती है। भाषा में ओज है। उनकी खड़ीवोली मे कुछ आचलिक शब्द भी आ जाते है किन्तु इन प्रांतीय शब्दो से प्रवाह मे कोई विघ्न नही उपस्थित होता। शैली मे विविधता है। कही चित्रोपम शैली, कही डायरी शैली, कही नाटकीय शैली। किन्तु सर्वत्र भापा मे प्रवाह एव ओज विद्यमान है। वाक्य छोटे होते हैं किन्तु भाव पाठकों को विभोर कर देते हैं।

वेनीपुरी जी के निवन्ध संस्मरणात्मक और भावात्मक हैं। भावुक हृदय के तीव्र उच्छ्वास की छाया उनके प्राय: सभी निवन्धों में विद्यमान हैं। इन्होने जो कुछ लिखा है वह स्वतन्त्र भाव से लिखा है। ये एक राजनीतिक एव समाज सेवी व्यक्ति थे। विधान सभा, सम्मेलन, किसान सभा, राष्ट्रीय आन्दोलन, विदेश-यात्रा, भापा-आन्दोलन आदि के वीच मे रमे रहते हुए भी इनका साहित्यकार हिन्दी साहित्य को अनेक सुन्दर ग्रथ दे गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ जेल मे लिखी गयी है किन्तु इनका राजनीतिक व्यक्तित्व इनके साहित्यकार को दवा नही सका।

प्रस्तुत पुस्तक मे संग्रहीत उनका निवन्ध 'गेहूँ और गुलाव' इसी नाम के उनके ग्रंथ का पहला निवंध है। इसमें लेखक ने गेहूँ को आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का द्योतक माना है तथा गुलाव को सांस्कृतिक प्रगति का। इसमे उन्होने प्रतिपादित किया है कि राजनीतिक एव आर्थिक प्रगति सदा एकागी रहेगी और इसे पूर्ण वनाने के लिए सास्कृतिक प्रगति की आवश्यकता होगी। मानव सस्कृति के विकास के लिए साहित्यकारो एव कलाकारों की भूमिका गुलाव की भूमिका है और इसका अपना स्थान है। गेहूँ और गुलाव में प्राचीन काल मे समन्वय था किन्तु आज आवश्यकता इस वात की है कि गेहूँ पर विजय प्राप्त की जाय।

गेहूँ बनाम गुलाब

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब ? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस ? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस !

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाये क्या पीये ? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीटपतग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाये उससे !

गेहूँ—उसकी भूख का काफला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है। गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ !

मैदान जोते जा रहे हैं, बाग उजाड़ जा रहे हैं—गेहूँ के लिए !

बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है ! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक वृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

किन्तु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाये—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अन्तर ? मानव को मानव बनाया गुलाब ने ! मानव मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी !

यह नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थी, टँकी थी।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थी। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ; उनकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग

की वनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उडा जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाये, तराने छेड़े ! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनायी, वंशी भी बजायी !

रात का काला-घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ इसलिए नही कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने मे उसे सहूलियत मिलेगी ; वल्कि वह आनन्द-विभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः-शनैः प्रस्फुटित होने वाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस-कणों से ! आसमान में जब बादल उमडे, तव उसमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नही हुआ ; उनके सौन्दर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया——इन्द्रधनुष ने उसके हृदय को भी इन्द्र-धनुषी रंगों मे रग दिया !

मानव शरीर मे पेट का स्थान नीचे है ; हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर ! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानान्तर रेखा मे नही है ! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की !

गेहूँ की आवश्यकता उसे है ; किन्तु, उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की ! प्राचीन काल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे हैं !

जब तक मानव के जीवन मे गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानन्द रहा !

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ सगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन मे गाये चराता था, रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नही भूला था और जब आकाश पर उसकी नजरे गड़ी थी, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर है !

किन्तु, धीरे-धीरे यह संतुलन टूटा !

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़ने वाले, उबालने वाले, नारकीय यंत्रणाएँ देने वाले श्रम का—उस श्रम का, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शान्त न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का—भ्रष्टाचार का, गन्दगी और गलीज का ! वह विलासिता—जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी !

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिये। नतीजा—महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परम्परा चली आ रही है ! आज चारों ओर महाभारत है, गृह-युद्ध है—सर्वनाश है, महानाश है !

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में ; गुलाब रो रहा है बगीचों में—दोनों अपने-अपने पालनकर्त्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर—!

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम फिर एक बार संतुलन स्थापित करे !

किन्तु मानव क्या पीछे मुड़ा है ; मुड़ सकता है ?

यह महायात्री आगे बढ़ता रहा है, आगे बढ़ता रहेगा !

और क्या नवीन संतुलन चिरस्थायी हो सकेगा ? क्या इतिहास फिर दुहरकर नहीं रहेगा ?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर संतुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नही !

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे !

गेहूँ पर गुलाब की विजय—चिर-विजय ! अब नये मानव की यह नयी आकांक्षा हो !

क्या यह सम्भव ?

बिल्कुल, सोलह आने सम्भव है।

विज्ञान ने बता दिया है—यह गेहूँ क्या है? और उसने यह भी जता दिया है कि मानव मे यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहूँत्व क्या है, हम जान गये है। यह गेहूँत्व उसमें आता कहाँ से है, हम से यह भी छिपा नहीं है!

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्त्व एक विशेष प्रक्रिया से पौदों की बालियों में संग्रहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्त्वों की कमी हमारे शरीर में भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की जुताई, कुड़ाई, गुड़ाई! क्यों आकाश की दुहाई! हम पृथ्वी और आकाश से उन तत्त्वों को सीधे क्यों ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात—उटोपिया, उटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, उटोपिया तब तक बनी रहेगी जब तक विज्ञान संहार-काड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्योंही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और; विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या सारे ब्रह्माण्ड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर कदम बढ़ा भी रहा है!

कम से कम इतना तो वह तुरत कर ही देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की अन्य परमावश्यक वस्तुएँ—हवा, पानी की तरह—इफरात हो जायँ! बीज, खाद, सिचाई, जुताई के ऐसे तरीके निकलते ही जा रहे है, जो गेहूँ की समस्या को हल कर दे।

प्रचुरता—शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करने वाले साधनों की प्रचुरता—की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है!

* * *

प्रचुरता?—एक प्रश्न चिह्न!

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शान्ति दे सकती है?

'हमारा सोने का हिन्दुस्तान'—यह गीत गाइए; किन्तु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता वास करती थी !

राक्षसता—जो रक्त पीती थी, अभक्ष्य खाती थी; जिसके अकाय शरीर थे, दस सिर थे, जो छः महीने सोती थी; जिसे दूसरे की बहू-वेटियों को उड़ा ले जाने मे तनिक भी झिझक नही थी।

गेहूँ वड़ा प्रवल है—वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम वनाकर रखना चाहेगा! पेट की क्षुधा शान्त कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर आपको बहुत दिनों तक तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता मे भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय ?

अपनी वृत्तियों को वश में करने के लिए आज मनोविज्ञान दो उपाय वताता है—इन्द्रियों के संयमन और वृत्तियों के उन्नयन का !

संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आये हैं। किन्तु, इसके वुरे नतीजे भी हमारे सामने है—बड़े-बड़े तपस्वियों की लम्बी-लम्बी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गयीं !

आज भी देखिए। गाँधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलने वाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे है !

इसलिए उपाय एकमात्र है—वृत्तियों के उन्नयन का।

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए !

शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो—गेहूँ पर गुलाव की !

गेहूँ के वाद गुलाव—बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं !

* * *

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है--वह स्थूल दुनिया, जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छायी है!

जो आर्थिक रूप मे रक्त पीती रही है; राजनीतिक रूप मे रक्त की धारा बहाती रही है!

अब वह दुनिया आने वाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेगे!

गुलाब की दुनिया--मानस का संसार--सांस्कृतिक जगत्।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा जब हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानस-जगत् का नया लोक बसायेंगे!

जब गेहूँ से हमारा पिंड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छन्द विहार करेंगे!

गुलाब की दुनिया--रंगों की दुनिया, सुगन्धों की दुनिया!

भौरे नाच रहे, गूंज रहे, फुलसुँघनी फुदक रही, चहक रही!

नृत्य, गीत--आनन्द, उछाह!

कही गन्दगी नही; कही कुरूपता नही! आँगन मे गुलाब, खेतों में गुलाब! गालों पर गुलाब खिल रहे, आँखों से गुलाब झाँक रहा!

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगन्धमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायेगा? वह दिन कब आयगा?

वह आ रहा है--क्या आप देख नही रहे? कैसी आँखे है आपकी! शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वहाँ अलौकिक, स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर हो!

"शौके दीवार अगर है, तो नजर पैदा कर!"

--रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने गेहूँ को किसका प्रतीक माना है ?
२. गुलाब को किस प्रकार की भावना का द्योतक बताया गया है ?
३. पशु और मानव मे अन्तर का क्या आधार है ?
४. लेखक के अनुसार गेहूँ पर विजय किस प्रकार पायी जा सकती है ?
५. गेहूँ पर गुलाब की प्रभुता का क्या तात्पर्य है ?
६. गुलाब की दुनिया का वर्णन लेखक ने किस प्रकार किया है ?
७. लेखक की ही शैली में 'अन्न और फूल' पर दस वाक्य लिखिए।
८. लेखक के अनुसार विज्ञान को किस ओर आना है ?
९. गेहूँ और गुलाब में सन्तुलन टूटने पर क्या होता है ?
१०. निम्नलिखित अंशों की व्याख्या कीजिए :—
(क) 'गेहूँ हम खाते है, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।'
(ख) 'गेहूँ की आवश्यकता उसे है, किन्तु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की। प्राचीन काल के उपवास, व्रत, तपस्या, आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप हैं।'
(ग) 'गेहूँ सिर धुन रहा है खेतो में; गुलाब रो रहा है बगीचो में—दोनों अपने-अपने पालन-कर्त्ताओ के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर।'
११. रामवृक्ष बेनीपुरी की भाषा-शैली की विशेषताओं को लिखिए।

वासुदेवशरण अग्रवाल (सन् १९०४-१९६७)

इनका जन्म लखनऊ के प्रतिष्ठित वैश्य परिवार मे हुआ था। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक होने के बाद एम० ए०, पी-एच० डी० तथा डी० लिट्० की उपाधियाँ इन्होने लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राप्त की। ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के भारती महाविद्यालय मे 'पुरातत्व एवं प्राचीन इतिहास विभाग' के अध्यक्ष और बाद मे आचार्य रहे।

१. कल्पवृक्ष, २. पृथिवीपुत्र, ३. भारत की एकता, ४. माताभूमि इनकी प्रमुख कृतियाँ है। इन्होने वैदिक साहित्य, दर्शन, पुराण और महाभारत पर अनेक गवेषणात्मक लेख लिखे है। जायसी कृत 'पद्मावत' की सजीवनी व्याख्या और बाणभट्ट के 'हर्ष चरित' का सास्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करके इन्होने हिन्दी साहित्य को गौरवान्वित किया है।

इनकी भाषा सर्वत्र विषयानुकूल है। सस्कृतनिष्ठता के कारण कही-कही वह दुरूह हो गयी है। इनकी मौलिक रचनाओं मे संस्कृत की सामासिक शैली की प्रमुखता है तथा भाष्यो मे व्यास शली की। इनकी शैली पर इनके गंभीर व्यक्तित्व की गहरी छाप है। ये एक गभीर अध्येता और चिन्तक रहे है। इनके व्यक्तित्व का निर्माण एक सचेत शोधकर्त्ता, विवेकशील विचारक तथा एक सहृदय कवि के योग से हुआ है। इसलिए इनके निबन्धो मे ज्ञान का आलोक, चिन्तन की गहराई और भावोद्रेक की तरलता एक साथ लक्षित है। सामान्यत. इनके निबन्ध विचारात्मक शैली मे ही लिखे गये हैं। अपने निबन्धों में निर्णयो की पुष्टि के लिए उद्धरणो को प्रस्तुत करना इनका सहज स्वभाव रहा है। इसलिए उद्धरण-बहुलता इनकी निबन्ध-शैली की एक विशेषता बन गयी है।

इनके निबन्धों मे भारतीय संस्कृति का उदात्त रूप व्यक्त हुआ है। इनके कथन प्रामाणिक हैं और इनकी शैली में आत्म-विश्वास की झलक मिलती है। इनकी भाषा प्रौढ तथा परिमार्जित है। इन्होने मुख्यतः इतिहास, पुराण, धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्रों से शब्द-चयन किया है और शब्दों को उनके मूल अर्थ में प्रयुक्त

किया है। इनकी शैली का प्रधान रूप विवेचनात्मक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ये अपनी मौलिकता, विचारशीलता और विद्वत्ता के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे।

प्रस्तुत निवन्ध इनके 'पृथिवी पुत्र' नामक निबन्ध-संग्रह से लिया गया है। इस निवन्ध में लेखक ने यह बताया है कि राष्ट्र का स्वरूप तीन तत्त्वो से मिलकर वनता है। ये तीन तत्त्व है, पृथिवी, जन और सस्कृति। पृथिवी को माता के रूप मे मानना और स्वयं को पृथिवी का पुत्र मानना राष्ट्रीयता की भावना के उदय के लिए आवश्यक है। राष्ट्र के समग्ररूप में भूमि और जन का दृढ सम्बन्ध होना चाहिए। इसके साथ-साथ संस्कृति के विपय में भी लेखक ने मार्मिक विचार प्रकट किये है। लेखक के अनुसार सहृदय व्यक्ति प्रत्येक संस्कृति के आनन्द पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनन्दित हो उठता है।

राष्ट्र का स्वरूप

भूमि, भूमि पर बसने वाला जन और जन की संस्कृति, इन तीनों के सम्मिलन से राष्ट्र का स्वरूप बनता है।

भूमि का निर्माण देवों ने किया है, वह अनंत काल से है। उसके भौतिक रूप, सौन्दर्य और समृद्धि के प्रति सचेत होना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। भूमि के पार्थिव स्वरूप के प्रति हम जितने अधिक जाग्रत होंगे उतनी ही हमारी राष्ट्रीयता बलवती हो सकेगी। यह पृथिवी सच्चे अर्थों मे समस्त राष्ट्रीय विचारधाराओं की जननी है। जो राष्ट्रीयता पृथिवी के साथ नही जुड़ी वह निर्मूल होती है। राष्ट्रीयता की जड़ें पृथिवी में जितनी गहरी होंगी उतना ही राष्ट्रीय भावों का अकुर पल्लवित होगा। इसलिए पृथिवी के भौतिक स्वरूप की आद्योपांत जानकारी प्राप्त करना, उसकी सुन्दरता, उपयोगिता और महिमा को पहचानना आवश्यक धर्म है।

इस कर्त्तव्य की पूर्ति सैकड़ों-हजारों प्रकार से होनी चाहिए। पृथिवी से जिस वस्तु का सम्बन्ध है, चाहे वह छोटी हो या बड़ी, उसका कुशल-प्रश्न पूछने के लिए हमें कमर कसनी चाहिए। पृथिवी का सागोपांग अध्ययन जागरणशील राष्ट्र के लिए बहुत ही आनंदप्रद कर्त्तव्य माना जाता है। गाँवों और नगरों मे सैकडों केन्द्रों से इस प्रकार के अध्ययन का सूत्रपात होना आवश्यक है।

उदाहरण के लिए, पृथिवी की उपजाऊ शक्ति को बढाने वाले मेघ जो प्रतिवर्ष समय पर आकर अपने अमृत जल से इसे सीचते है, हमारे अध्ययन की परिधि के अंतर्गत आने चाहिए। उन मेघजलों से

परिवर्द्धित प्रत्येक तृण-लता और वनस्पति का सूक्ष्म परिचय प्राप्त करना भी हमारा कर्त्तव्य है।

इस प्रकार जब चारों ओर से हमारे ज्ञान के कपाट खुलेंगे, तब सैकड़ों वर्षों से शून्य और अंधकार से भरे हुए जीवन के क्षेत्रों में नया उजाला दिखायी देगा।

धरती माता की कोख में जो अमूल्य निधियाँ भरी हैं जिनके कारण वह वसुंधरा कहलाती है उससे कौन परिचित न होना चाहेगा? लाखों-करोड़ों वर्षों से अनेक प्रकार की धातुओं को पृथिवी के गर्भ में पोषण मिला है। दिन-रात बहनेवाली नदियों ने पहाड़ों को पीस-पीस कर अगणित प्रकार की मिट्टियों से पृथिवी की देह को सजाया है। हमारे भावी आर्थिक अभ्युदय के लिए इन सब की जाँच-पड़ताल अत्यंत आवश्यक है। पृथिवी की गोद में जन्म लेने वाले जड़-पत्थर कुशल शिल्पियों से सँवारे जाने पर अत्यन्त सौन्दर्य के प्रतीक बन जाते हैं। नाना भाँति के अनगढ़ नग विन्ध्य की नदियों के प्रवाह में सूर्य की धूप से चिलकते रहते है, उनको जब चतुर कारीगर पहलदार कटाव पर लाते है तब उनके प्रत्येक घाट से नयी शोभा और सुन्दरता फूट पड़ती है, वे अनमोल हो जाते हैं। देश के नर-नारियों के रूप-मंडन और सौन्दर्य-प्रसाधन में इन छोटे पत्थरों का भी सदा से कितना भाग रहा है; अतएव हमें उनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

पृथिवी और आकाश के अंतराल में जो कुछ सामग्री भरी है, पृथिवी के चारों ओर फैले हुए गंभीर सागर में जो जलचर एवं रत्नों की राशियाँ हैं, उन सबके प्रति चेतना और स्वागत के नये भाव राष्ट्र में फैलने चाहिए। राष्ट्र के नवयुवकों के हृदय में उन सबके प्रति जिज्ञासा की नयी किरणें जब तक नहीं फूटतीं तब तक हम सोये हुए के समान हैं।

विज्ञान और उद्यम दोनों को मिलाकर राष्ट्र के भौतिक स्वरूप का एक नया ठाट खड़ा करना है। यह कार्य प्रसन्नता, उत्साह और

अथक परिश्रम के द्वारा नित्य आगे बढ़ाना चाहिए। हमारा यह ध्येय हो कि राष्ट्र में जितने हाथ हैं उनमें से कोई भी इस कार्य में भाग लिये विना रीता न रहे। तभी मातृभूमि की पुष्कल समृद्धि और समग्र रूपमंडन प्राप्त किया जा सकता है।

जन

मातृभूमि पर निवास करने वाले मनुष्य राष्ट्र का दूसरा अंग हैं। पृथिवी हो और मनुष्य न हों, तो राष्ट्र की कल्पना असंभव है। पृथिवी और जन दोनों के सम्मिलन से ही राष्ट्र का स्वरूप संपादित होता है। जन के कारण ही पृथिवी मातृभूमि की संज्ञा प्राप्त करती है। पृथिवी माता है और जन सच्चे अर्थों मे पृथिवी का पुत्र है—

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।

—भूमि माता है, मैं उसका पुत्र हूँ।

जन के हृदय मे इस सूत्र का अनुभव ही राष्ट्रीयता की कुंजी है। इसी भावना से राष्ट्र-निर्माण के अंकुर उत्पन्न होते हैं।

यह भाव जब सशक्त रूप में जागता है तब राष्ट्र-निर्माण के स्वर वायुमडल में भरने लगते हैं। इस भाव के द्वारा ही मनुष्य पृथिवी के साथ अपने सच्चे सम्बन्ध को प्राप्त करते हैं। जहाँ यह भाव नहीं है वहाँ जन और भूमि का सम्बन्ध अचेतन और जड़ बना रहता है। जिस समय भी जन का हृदय भूमि के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को पहचानता है उसी क्षण आनंद और श्रद्धा से भरा हुआ उसका प्रणाम-भाव मातृ-भूमि के लिए इस प्रकार प्रकट होता है—

नमो मात्रे पृथिव्यै। नमो मात्रे पृथिव्यै।

—माता पृथिवी को प्रणाम है। माता पृथिवी को प्रणाम है।

यह प्रणाम भाव ही भूमि और जन का दृढ़ बन्धन है। इसी दृढ़भित्ति पर राष्ट्र का भवन तैयार किया जाता है। इसी दृढ़ चट्टान पर राष्ट्र का चिर जीवन आश्रित रहता है। इसी मर्यादा को मानकर राष्ट्र के प्रति मनुष्यों के कर्त्तव्य और अधिकारों का उदय होता है। जो

जन पृथिवी के साथ माता और पुत्र के सम्बन्ध को स्वीकार करता है, उसे ही पृथिवी के वरदानों में भाग पाने का अधिकार है । माता के प्रति अनुराग और सेवाभाव पुत्र का स्वाभाविक कर्त्तव्य है। वह एक निष्कारण धर्म है। स्वार्थ के लिए पुत्र का माता के प्रति प्रेम, पुत्र के अधःपतन को सूचित करता है। जो जन मातृभूमि के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहता है उसे अपने कर्त्तव्यों के प्रति पहले ध्यान देना चाहिए।

माता अपने सब पुत्रों को समान भाव से चाहती है। इसी प्रकार पृथिवी पर बसने वाले जन बराबर हैं। उनमें ऊँच और नीच का भाव नही है। जो मातृभूमि के उदय के साथ जुड़ा हुआ है वह समान अधिकार का भागी है। पृथिवी पर निवास करने वाले जनों का विस्तार अनत है—नगर और जनपद, पुर और गाँव, जंगल और पर्वत नाना प्रकार के जनों से भरे हुए हैं। ये जन अनेक प्रकार की भाषाएँ बोलने वाले और अनेक धर्मो के मानने वाले है, फिर भी वे मातृभूमि के पुत्र है और इस कारण उनका सौहार्द भाव अखंड है। सभ्यता और रहन-सहन की दृष्टि से जन एक-दूसरे से आगे-पीछे हो सकते है, किन्तु इस कारण से मातृभूमि के साथ उनका जो सम्बन्ध है उसमें कोई भेद-भाव उत्पन्न नही हो सकता। पृथिवी के विशाल प्रांगण मे सब जातियों के लिए समान क्षेत्र है। समन्वय के मार्ग से भरपूर प्रगति और उन्नति करने का सबको एक जैसा अधिकार है। किसी जन को पीछे छोड़ कर राष्ट्र आगे नही बढ सकता। अतएव राष्ट्र के प्रत्येक अंग की सुध हमें लेनी होगी। राष्ट्र के शरीर के एक भाग में यदि अंधकार और निर्बलता का निवास है तो समग्र राष्ट्र का स्वास्थ्य उतने अंश में असमर्थ रहेगा। इस प्रकार समग्र राष्ट्र को जागरण और प्रगति की एक-जैसी उदार भावना से संचालित होना चाहिए।

जन का प्रवाह अनंत होता है। सहस्रों वर्षो से भूमि के साथ राष्ट्रीय जन ने तादात्म्य प्राप्त किया है। जब तक सूर्य की रश्मियाँ नित्य प्रातःकाल भुवन को अमृत से भर देती है तब तक राष्ट्रीय जन का

जीवन भी अमर है। इतिहास के अनेक उतार-चढ़ाव पार करने के वाद भी राष्ट्र-निवासी जन नयी उठती लहरों से आगे वढने के लिए आज भी अजर-अमर है। जन का संततवाही जीवन नदी के प्रवाह की तरह है, जिसमे कर्म और श्रम के द्वारा उत्थान के अनेक घातों का निर्माण करना होता है।

संस्कृति

राष्ट्र का तीसरा अंग जन की संस्कृति है। मनुष्यों ने युग-युगों मे जिस सभ्यता का निर्माण किया है वही उसके जीवन की श्वास-प्रश्वास है। विना सस्कृति के जन की कल्पना कवंधमात्र है, संस्कृति ही जन का मस्तिष्क है। सस्कृति के विकास और अभ्युदय के द्वारा ही राष्ट्र की वृद्धि संभव है। राष्ट्र के समग्र रूप मे भूमि और जन के साथ-साथ जन की संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि भूमि और जन अपनी संस्कृति से विरहित कर दिये जॉय तो राष्ट्र का लोप समझना चाहिए। जीवन के विटप का पुष्प संस्कृति है। संस्कृति के सौन्दर्य और सौरभ में ही राष्ट्रीय जन के जीवन का सौन्दर्य और यश अंतर्निहित है। ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा संस्कृति है। भूमि पर वसने वाले जन ने ज्ञान के क्षेत्र मे जो सोचा है और कर्म के क्षेत्र मे जो रचा है, दोनों के रूप मे हमें राष्ट्रीय सस्कृति के दर्शन मिलते है। जीवन के विकास की युक्ति ही संस्कृति के रूप में प्रकट होती है। प्रत्येक जाति अपनी-अपनी विशेपताओं के साथ इस युक्ति को निश्चित करती है और उससे प्रेरित सस्कृति का विकास करती है। इस दृष्टि से प्रत्येक जन की अपनी-अपनी भावना के अनुसार पृथक्-पृथक् संस्कृतियाँ राष्ट्र में विकसित होती है, परतु उन सवका मूल-आधार पारस्परिक सहिष्णुता और समन्वय पर निर्भर है।

जगल में जिस प्रकार अनेक लता, वृक्ष और वनस्पति अपने अदम्य भाव से उठते हुए पारस्परिक सम्मिलन से अविरोधी स्थिति प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जन अपनी संस्कृतियों के द्वारा एक-दूसरे

के साथ मिलकर राष्ट्र में रहते हैं। जिस प्रकार जल के अनेक प्रवाह नदियों के रूप में मिलकर समुद्र में एकरूपता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीय जीवन की अनेक विधियाँ राष्ट्रीय संस्कृति में समन्वय प्राप्त करती हैं। समन्वययुक्त जीवन ही राष्ट्र का सुखदायी रूप है।

साहित्य, कला, नृत्य, गीत, आमोद-प्रमोद अनेक रूपों में राष्ट्रीय जन अपने-अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। आत्मा का जो विश्वव्यापी आनंद-भाव है वह इन विविध रूपों में साकार होता है। यद्यपि वाह्य रूप की दृष्टि से संस्कृति के ये बाहरी लक्षण अनेक दिखायी पड़ते हैं, किन्तु आंतरिक आनंद की दृष्टि से उनमें एकसूत्रता है। जो व्यक्ति सहृदय है, वह प्रत्येक संस्कृति के आनंद-पक्ष को स्वीकार करता है और उससे आनंदित होता है। इस प्रकार की उदार भावना ही विविध जनों से बने हुए राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यकर है।

गाँवों और जंगलों में स्वच्छंद जन्म लेने वाले लोकगीतों में, तारो के नीचे विकसित लोक-कथाओं में संस्कृति का अमित भंडार भरा हुआ है, जहाँ से आनंद की भरपूर मात्रा प्राप्त हो सकती है। राष्ट्रीय संस्कृति के परिचयकाल में उन सबका स्वागत करने की आवश्यकता है।

पूर्वजों ने चरित्र और धर्म-विज्ञान, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में जो कुछ भी पराक्रम किया है उस सारे विस्तार को हम गौरव के साथ धारण करते हैं और उसके तेज को अपने भावी जीवन में साक्षात् देखना चाहते हैं। यही राष्ट्र-संवर्धन का स्वाभाविक प्रकार है। जहाँ अतीत वर्तमान के लिए भाररूप नहीं है, जहाँ भूत वर्तमान को जकड़ रखना नहीं चाहता वरन् अपने वरदान से पुष्ट करके उसे आगे बढ़ाना चाहता है, उस राष्ट्र का हम स्वागत करते हैं।

—वासुदेवशरण अग्रवाल

प्रश्न-अभ्यास

१. राष्ट्र का स्वरूप किस प्रकार निर्मित होता है ? राष्ट्र को निर्मित करने वाले तत्त्वो का वर्णन कीजिए।

२. वसुन्धरा का क्या आशय है ? स्पष्ट कीजिए।

३. भूमि और जन के दृढ वन्धन का आधार क्या है ?

४. भारतीय संस्कृति की विशेपताएँ वताइए ।

५. "भूमि माता हे, मैं उसका पुत्र हूँ"—इस कथन की व्याख्या कीजिए ।

६. निम्नलिखित प्रयोगों का आशय समझाइए :—
सांगोपाग, अन्तराल, निष्कारण धर्म, रूपमडन, तादात्म्य, सौन्दर्य-प्रसाधन।

७. निम्नलिखित वाक्यों का अर्थ स्पष्ट कीजिए :—
(क) 'जगल मे जिस प्रकार·······राष्ट्र मे रहते हैं।'
(ख) 'जहाँ अतीत वर्तमान के लिए·······हम स्वागत करते हैं।'
(ग) 'साहित्य, कला, नृत्य·······प्रकट करते हैं।'
(घ) 'पृथिवी से जिस·······कमर कसनी चाहिए।'
(ङ) 'जन का संततवाही जीवन·······निर्माण करना होता है।'
(च) 'विना सस्कृति·······मस्तिष्क है।'

८. प्रस्तुत निवन्ध के आधार पर लेखक के विपय में निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :—
(अ) देश-प्रेम
(आ) सामाजिक विचार
(इ) पाडित्य

९. वासुदेवशरण अग्रवाल की भाषा-शैली की समीक्षा कीजिए।

जैनेन्द्र कुमार (सन् १६०५)

जैनेन्द्र प्रेमचन्दोत्तर युग के श्रेष्ठ कथाकार के रूप में विख्यात हैं। इनका जन्म अलीगढ के कौड़ियागंज नामक कस्बे में सन् १६०५ मे हुआ था। बाल्यावस्था मे ही इनके पिता की मृत्यु हो गयी। इनका पालन-पोषण इनकी माता और मामा ने किया। इनकी प्रारंभिक शिक्षा हस्तिनापुर के जैन गुरुकुल ऋषि ब्रह्मचर्याश्रम मे हुई। सन् १६१६ में इन्होंने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए इन्होने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय मे प्रवेश लिया किन्तु सन् १६२१ के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण इनकी शिक्षा का क्रम टूट गया। इनमें स्वाध्याय की प्रवृत्ति छात्र जीवन से ही थी। जेल मे स्वाध्याय के साथ ही इन्होंने साहित्य-सृजन का कार्य भी आरंभ किया। इनकी पहली कहानी—खेल सन् १६२८ मे 'विशाल भारत' मे प्रकाशित हुई थी। उसके बाद ये निरतर साहित्य-सृजन में प्रवृत्त रहे हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने कहानी, उपन्यास, निवंध, संस्मरण, आदि अनेक गद्य-विधाओ को समृद्ध किया है। इनकी प्रमुख साहित्य कृतियाँ निम्नांकित है।

निवंधसंग्रह:—१. प्रस्तुत प्रश्न, २. जड़ की बात, ३. पूर्वोदय, ४. साहित्य का श्रेय और प्रेय, ५. मंथन, ६. सोच-विचार, ७. काम, प्रेम और परिवार।

उपन्यास :—१. परख, २. सुनीता, ३. त्याग-पत्र, ४. कल्याणी, ५. विवर्त, ६. सुखदा, ७. व्यतीत, ८. जयवर्धन, ६. मुक्तिबोध।

कहानियाँ :—१. फाँसी, २. जयसंधि, ३. वातायन, ४. नीलमदेश की राजकन्या, ५. एक रात, ६. दो चिड़ियाँ, ७. पाजेब।

(इन संग्रहो के वाद जैनेन्द्र की समस्त कहानियाँ दस भागों में प्रकाशित की गयी हैं।)

संस्मरण :—ये और वे।

अनुवाद :—१. मन्दालिनी (नाटक), २. पाप और प्रकाश (नाटक), ३. प्रेम में भगवान (कहानी संग्रह)। उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त इन्होंने कुछ संपादन कार्य भी किया है।

जैनेन्द्र ने साहित्य, कला, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज, राष्ट्र आदि अनेक विषयों को लेकर निवध रचना की है। इनके निबंध चिन्तन-प्रधान और विचारात्मक हैं। इनका विचार करने का अपना ढग है। कभी विषय को सीधे उठा लेना, कभी कुछ दूसरे प्रसंगों की चर्चा करते हुए मूल विषय पर आना, कभी मूल विषय के केन्द्रीय विचार-सूत्र की व्याख्या करते हुए विषय-विस्तार करना, कभी किसी कथा-संदर्भ को प्रस्तुत करके उसके भीतर के विचार-सूत्र को निकाल कर आगे बढना और कभी पाठको को आमन्त्रित करके उनके साथ बातचीत करते हुए एक परिचर्चा के रूप मे प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत करना, इनकी विचार-पद्धति की विविध भगिमाएँ है। किसी भी प्रश्न पर विचार करते हुए ये उसके आंतरिक पक्ष को विशेष महत्त्व देते हैं। इसलिए इनके निवंधों मे दर्शन, मनोविज्ञान और अध्यात्म के शब्दो का प्रयोग अधिक हुआ है। विचार की निजी शैली के कारण ही इनके निवंधों मे व्यक्तिनिष्ठता आ गयी है।

जैनेन्द्र के निवधों की भाषा मूलत. चिंतन की भाषा है। ये सोचा हुआ न लिखकर सोचते हुए लिखते हैं। इसलिए इनके विचारों में कही-कही उलझाव आ जाता है। इनकी विचारात्मक शैली मे प्रश्न, उत्तर, तर्क, युक्ति, दृष्टान्त आदि तत्त्वो का समावेश उसे गूढता प्रदान करता है।

व्याकरण की दृष्टि से इनकी भाषा कही-कही अपरिमार्जित लगती है। शब्द-चयन मे जैनेन्द्र का दृष्टिकोण उदार है। वे सही बात को सही ढग से उपयुक्त शब्दावली में कहना चाहते हैं। इसके लिए उन्हे चाहें अग्रेजी से शब्द लेना पड़े, चाहे उर्दू से, चाहे सस्कृत के तत्सम शब्दो का चयन करना पड़े, चाहे ठेठ घरेलू जीवन के शब्दों को ग्रहण करना हो, उन्हे इसमें कोई सकोच नही होता। वस्तुत. जैनेन्द्र की शैली उनके व्यक्तित्व का ही प्रतिरूप है। हिन्दी साहित्य के विद्वानो के समक्ष **'जैनेन्द्र ऐसी सुलझन है जो पहेली से भी अधिक गूढ़ है।'** उनके व्यक्तित्व का यह सुलझा हुआ उलझाव उनकी शैली में भी लक्षित होता है।

प्रस्तुत निबध मे जैनेन्द्र ने भाग्य और पुरुपार्थ के सम्बन्ध मे मौलिक दृष्टि से विचार किया हैं। उनके अनुसार ये दोनो एक दूसरे के विरोधी न होकर सहवर्ती हैं। भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है। विधाता की कृपा को पहचानना ही भाग्योदय है। मनुष्य का सारा पुरुषार्थ विधाता की कृपा प्राप्त करने मे ही है। विधाता की कृपा प्राप्त होते ही मनुष्य का कर्त्तापन का अहंकार मिट जाता है और उसका भाग्योदय हो जाता है।

भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझे ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता।

भाग्य का उदय मेरे निकट निरर्थक शब्द नही है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में आशय है कि मैं प्रधान नहीं हूँ, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूँ, लेकिन भाग्योदय उससे स्वतंत्र तत्त्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो, मुझे इसे स्वीकार करने में उल्टे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गये हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती-घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वान्तिर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ हो जाय, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ हो जाय तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह संगति है। अर्थात् भाग्य को कही से खींचकर उदय में लाना नहीं है, न अपने साथ ही ज्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ मुंह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ रखा करते हैं। अपने से प्यार करते हैं,

अपने को ही चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं, अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिए मानते हैं, सब कुछ को अपने अनुकूल चाहते है। चाहते यह हैं कि हम पूजा और प्रशंसा के केन्द्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मॅडराया करें। इस वासना से हमें छुट्टी नहीं मिल पाती। तव भी होता है कि ऊपर से गहरा दुःख आ पड़ता है। वह हमे भीतर तक विदीर्ण कर जाता है। कुछ क्षण के लिए जैसे हमारी अहंता को शून्य कर डालता है। यह शून्यावस्था भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए मै मानता हूॅ कि दुःख भगवान का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नही, दुःख ही भगवान का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है, अगर हम उसमें भगवान की कृपा को पहचान ले। उस क्षण यह सरल होता है कि हम अपने से मुडे और भाग्य के सम्मुख हों। बस इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण मे व्याप्त सदा-सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाय बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सव उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना वहुत बड़ी भूल करना होगा, ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो है। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे है, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते है। कोशिश मे तो कमी नहीं है पर सिद्धि कुछ नही मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धि माने तो यह दृश्य नही दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकने वाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जाँय। अगर वे व्यर्थ प्रयास करते रहते हैं तो अंत में यह कह उठें कि क्या करे, भाग्य ही उल्टा है, तो इसमे गलती नहीं मानी जायगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है? कारण, उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वहॉ दिशाएँ तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जैसा वहाँ कुछ

संभव ही नहीं है। तब होता यह है कि ऐसे निष्फल प्रयत्नों वाले स्वयं उससे उल्टे बने रहते हैं, अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जाते हैं, शेष दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। कर्म में अधिकांश यह दोष रहता है, उसमें एक नशा होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिए कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुँह फेर लेता है। तब, उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है।

ऊपर के शब्दों में आप कृपया कर्म की अवज्ञा न देखें, उसके साथ अकर्म के महत्त्व को भी पहचानें। अकर्म का आशय कर्म का अभाव नहीं, कर्त्तव्य का क्षय है। 'मैं यह कर रहा हूँ, मैं वह करने वाला हूँ, मैं यह सब कुछ करके छोड़ूँगा' आदि आदि, अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाये बल्कि बंधन और क्लेश उपजाये, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहना ?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच मे पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है ? बल-विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशुचेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नही है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्त्तृत्व भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु मे अद्भुत पराक्रम दीख जा

सकता है। किन्तु, यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाये।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है, उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा और अधूरा होता है। सचमुच ही इसे मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से अपने को अलग मानने का हमें अधिकार ही कहाँ है? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाय। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता, क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हमें भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी यत्न या श्रम नही करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नही, अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, न बंधन रह जाता है। मानों, कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यंतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर ह। इसे बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं, फिर हम सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर-फिर भी पैदा होते हों, लेकिन हमारी यह अहंता तो यही-की-यही रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है? जगत् और इतिहास तो चलता ही रहता हैं। तब इससे बड़ी मूर्खता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़े-तीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल-त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न

मानना इस तरह उस सब कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। सच पूछिए तो उदय उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रणत भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूँ, उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मंद नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जायगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलाएगा, अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं, वे भाग्योदय की प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं हह तो उदित है ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नानाविधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक जाता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वन्द्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराग भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अंत में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलाएगा अगर वह नत-नम्र होकर भाग्य को सिर आँखों लेगा और प्राप्त कर्त्तव्य मे ही अपने पुरुषार्थ की इति मानेगा।

—जैनेन्द्र कुमार

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक की दृष्टि में भाग्य और पुरुषार्थ विरोधी न होकर सहयोगी है। उसके इस दृष्टिकोण से आप कहाँ तक सहमत हैं ?

२. 'भाग्य तो विधाता का ही दूसरा नाम है' इस कथन के औचित्य पर विचार कीजिए।

३. 'जैसे सूरज की तरफ रुख होना सूर्योदय है वैसे ही भाग्य की तरफ मुख होना भाग्योदय है।' उपर्युक्त कथन की संगति पर विचार कीजिए।

४. 'पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नही सहयोग भी है।' इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

५. निम्नलिखित सूत्र-वाक्यों की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'दुख ही भगवान का अमृत है।'

(ख) 'अकर्म का आशय, कर्म का अभाव नही, कर्त्तव्य का क्षय है।'

(ग) 'पुरुष अपने अहं से विमुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है।'

(घ) 'यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसे द्वन्द्व से थका मारता है।'

६. मानव जीवन में दुःख का क्या महत्त्व है? वह हमारे व्यक्तित्व को किस रूप मे प्रभावित करता है? पठित निबध के आधार पर उत्तर दीजिए।

७. अहकार युक्त कर्म किस प्रकार बंधन और क्लेश उत्पन्न करता है?

८. पुरुपार्थ पशु चेष्टा से किस अर्थ मे भिन्न है? स्पष्ट कीजिए।

९. लेखक ने भाग्योदय के महत्त्व को स्वीकार किया है किन्तु भाग्यवादी बनने का विरोध किया है। कारण स्पष्ट कीजिए।

१०. निम्नलिखित गद्य-खडों की व्याख्या कीजिए :—

(क) 'भाग्य के प्रति······लक्षण मानना चाहिए।'

(ख) 'कर्म मे अधिकांश ······विस्मय ही क्या है?'

(ग) 'इच्छाएँ नाना हैं······हाथ आती है।'

११. जैनेन्द्र की निवध-शैली चिन्तनपरक है। पठित निबध के आधार पर इसकी पुष्टि कीजिए।

१२. निम्नलिखित शब्द-युग्मों का स्वरचित वाक्यों मे प्रयोग कीजिए : भाग्य और पुरुषार्थ, स्वार्थ-परमार्थ, प्रवृत्ति-निवृत्ति, विमुख-सन्मुख।

१३. क्या लेखक के भाग्य और पुरुषार्थ सम्बन्धी विचार आधुनिक वैज्ञानिक युग की विचार-धारा के अनुकूल हैं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' (सन् १६०६)

स्वातन्त्र्य-संग्राम की ज्योति और पत्रकारिता की साधना में से जिन साहित्यकारों और गद्य-शैलीकारों का अभ्युदय हुआ है, उनमें 'प्रभाकर' जी का स्थान विशिष्ट है। हिन्दी में लघुकथा, संस्मरण, रेखाचित्र और रिपोर्ताज की अनेक विधाओं का उन्होने प्रवर्त्तन और पोषण किया है। वे एक आदर्शवादी पत्रकार रहे हैं। अतः उन्होंने पत्रकारिता को भौतिक स्वार्थों की सिद्धि का साधन न बनाकर उच्च मानवीय मूल्यों की खोज और स्थापना में ही लगाया है।

'प्रभाकर' जी का जन्म एक सामान्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता पं० रमादत्त मिश्र की आजीविका पूजा-पाठ और पुरोहिताई थी, पर विचारों की महानता और व्यक्तित्व की दृढ़ता मे वे श्रेष्ठ थे। उनका जीवन अत्यन्त सरल और सात्त्विक था, पर 'प्रभाकर' जी की माता का स्वभाव बड़ा कर्कश और उग्र था। अपने एक संस्मरण 'मेरे पिता जी' में लेखक ने दोनों का परिचय देते हुए लिखा है—"वे दूध मिश्री तो माँ लाल मिर्च"। इनकी शिक्षा प्रायः नगण्य ही हुई। एक पत्र मे उन्होंने लिखा है—"हिन्दी शिक्षा (सच मानें) पहली पुस्तक के दूसरे पाठ ख-ट-म-ल खटमल, ट-म-ट-म टमटम। फिर साधारण संस्कृत। बस हरि ओम। यानी बाप पढ़े न हम।" उस किशोर अवस्था मे जबकि व्यक्तित्व के गठन के लिए विद्यालयों की शरण आवश्यक होती है, 'प्रभाकर' जी ने राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेना ही अधिक पसन्द किया। जब यह खुर्जा के संस्कृत विद्यालय में पढ़ रहे थे तब इन्होंने प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना आसिफ अली का भाषण सुना, जिसका इन पर इतना असर हुआ कि यह परीक्षा छोड़कर चले आये। उसके बाद इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन राष्ट्र-सेवा में लगा दिया। ये सन् १६३०-३२ तक और सन् १६४२ मे जेल में रहे और निरन्तर राष्ट्र के उच्च नेताओं के सम्पर्क में आते रहे। इनके लेख इनके राष्ट्रीय जीवन के मार्मिक संस्मरणों की जीवन्त झाँकियाँ हैं, जिनमे भारतीय स्वाधीनता के इतिहास के महत्त्वपूर्ण पृष्ठ भी हैं।

'प्रभाकर' जी के प्रसिद्ध प्रकाशित ग्रंथ हैं—१. आकाश के तारे, २. धरती

के फल, ३. जिन्दगी मुस्कराई, ४. भूले विसरे चेहरे, ५. दीप जले शंख वजे, ६. महके आँगन चहके द्वार, ७. माटी हो गई सोना, ८. वाजे पायलिया के घुंघरू, ९. क्षण वोले कण मुस्काये।

इस समय उनके सम्पादन मे दो पत्र सहारनपुर से प्रकाशित हो रहे हैं— **नया जीवन और विकास**। इन पत्रो से तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और शैक्षिक समस्याओ पर उनके निर्भीक आशावादी विचारों का परिचय प्राप्त होता है।

'प्रभाकर' जी का गद्य उनके जीवन मे से ढल कर आया है। उनकी शैली मे उनके व्यक्तित्व की दृढता, विचारो की सत्यता, अन्याय के प्रति आक्रोश, सहृदयता, उदारता और मानवीय करुणा की झलक मिलती है। अपने विचारो मे वे उदार, राष्ट्रवादी और मानवतावादी हैं। इसीलिए देश-प्रेम और मानवीय निष्ठा के अनेक रूप उनके लेखों मे मिलते हैं। उन्होंने हिन्दी गद्य को नये मुहावरे, नयी लोकोक्तियाँ और नयी सूक्तियाँ दी हैं। कविता उन्होने नही लिखी पर कवि की भावुकता और करुणा उनके गद्य में छलकती है। यथार्थ जीवन की दर्दभरी अनुभूतियो से उनके गद्य मे भी कविता का सौन्दर्य भर उठा है। इसीलिए उनके शब्द-निर्माण मे जगह-जगह चमत्कार है, वार्तालाप मे विदग्धता है, और परिस्थिति के चित्रण मे नाटकीयता है। उनके वाक्य-विन्यास मे भी विविधता रहती है। पात्र और परिस्थिति के साथ उन्होने वाक्य-रचना वदली है। विनोद की परिस्थिति मे छोटे वाक्य, चिन्तन की मन स्थिति मे लम्वे वाक्य और भावुकता के क्षणो मे व्याकरण के कठोर वन्धन से मुक्त कवित्वपूर्ण वाक्य-रचना भी की है। निश्चय ही वे हिन्दी के एक मौलिक शैलीकार है। उनकी मुख्य गद्य-विधा रिपोर्ताज है।

प्रस्तुत लेख मे लेखक ने इन्दौर के रावर्ट नर्सिंग होम की एक साधारण घटना को इस प्रकार मार्मिक रूप मे प्रस्तुत किया है कि वह हमे सच्चे धर्म अर्थात् मानव-सेवा और समता का पाठ पढ़ाने वाली वन गयी है। वहाँ उसने तीन सेवारत ईसाई महिलाओं को देखा—मदर मार्गरेट, मदर टेरेज़ा और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड। मदर मार्गरेट अत्यन्त वूढी थी, मदर टेरेजा अधेड़ आयु की और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड पूर्ण युवती। मदर टेरेज़ा फ्रास की थी और सिस्टर क्रिस्ट हेल्ड जर्मनी की, जो दोनों ही देश दो विश्व युद्धो मे विरोधी देश रहे हैं। पर मदर टेरेजा और सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड इस संकीर्ण राष्ट्रीयता से मुक्त थी। उन्हे एक ही ईसाई धर्म से उदार मानवता और नि.स्वार्थ मानव-सेवा का पाठ प्राप्त हुआ था। इस प्रकार लेखक ने अपने उदार मानवीय दृष्टिकोण को भी प्रकट किया है।

राबर्ट नर्सिंग होम में

कल तक जिनका अतिथि था, आज उनका परिचारक हो गया; क्योंकि मेरी आतिथेया अचानक रोग की लपेट में आ गयीं और उन्हें इन्दौर के राबर्ट नर्सिंग होम में लाना पड़ा।

यह है सितम्बर १९५१ !

रोग का आघात पूरे वेग में, परिणाम कँपकँपाता और वातावरण चिन्ता से घिरा-घेरा कि हम सब सुस्त। तभी मैंने चौंककर देखा कि अपने विशिष्ट धवल वेष से आच्छादित एक नारी कमरे में आ गयी हैं।

देह उनकी कोई पैंतालीस वसन्त देखी, वर्ण हिम-श्वेत, पर अरुणोदय की रेखाओं से अनुरंजित, कद लम्बा और सुता-सधा।

"लम्बा मुँह अच्छा नहीं लगता, बीमार के पास लम्बा मुँह नहीं।" आते ही उन्होंने कहा। भाषा सुथरी, उच्चारण साफ और स्वर आदेश का, पर आदेश न अधिनायक का, न अधिकारी का, पूर्णतया माँ का, जिसका आरंभ होता है शिकंजे से और अन्त गोद में।

हाँ, वह माँ ही थी : होम की अध्यक्षा मदर टेरेज़ा, मातृभूमि जिसकी फ्रान्स और कर्मभूमि भारत। उभरती तरुणाई से उम्र के इस ढलाव तक रोगियों की सेवा में लवलीन; यही काम, यही धाम, यही राग, यही चाव और बस यही यही !

उन्होंने रोगी के दोनों म्लान कपोल अपने चाँदनी-चर्चित हाथों से थपथपाये तो उसके सूखे अधरों पर चाँदी की एक रेखा खिंच आयी और मुझे लगा कि वातावरण का कुछ कम हो गया।

तभी एक खटाक और हमारा डॉक्टर कमरे के भीतर। मदर ने

उसे देखते ही कहा, "डॉक्टर, तुम्हारा बीमार हँस रहा है।"

"हाँ, मदर! तुम हँसी बिखेरती जो हो।" डॉक्टर ने अपने जाने कितने अनुभव यों एक ही वाक्य मे गूँथ दिये।

मैंने भावना से अभिभूत हो सोचा——जो विना प्रसव किये ही माँ बन सकती है, वही तीस रुपये मासिक के योग-क्षेम पर बीस वर्ष के दिन और रात सेवा मे लगा सकती है और वही पीड़ितों के तड़पते जीवन मे हँसी बिखेर सकती है।

तीसरे पहर का समय, थर्मामीटर हाथ में लिये यह आयीं मदर टेरेजा और उनके साथ एक नवयुवती, उसी विशिष्ट धवल वेष मे, गौर और आकर्षक। हाँ, गौर और आकर्षक, पर उसके स्वरूप का चित्रण करने में ये दोनों ही शब्द असफल। यों कहकर उसके आस-पास आ पाऊँगा कि शायद चाँदनी को दूध में घोलकर ब्रह्मा ने उसका निर्माण किया हो। रूप और स्वरूप का एक दैवी साँचा-सी वह लड़की। नाम उसका क्रिस्ट हैल्ड और जन्मभूमि जर्मनी।

फ्रान्स की पुत्री मदर टेरेजा और जर्मनी की दुहिता क्रिस्ट हैल्ड एक साथ, एक रूप, एक ध्येय, एक रस।

"तुम्हारा देश महान् है, जो युद्ध के देवता हिटलर को भी जन्म दे सकता है और तुम्हारे-जैसी सेवाशील बालिका को भी।" मैंने उससे कहा, तो दर्प से दीप्त हो वह स्टैच्यू हो गयी और अपना दाहिना पैर पृथ्वी पर वेग से ठोक कर बोली——"यस-यस।"

वह दूसरे कमरे में चली गयी, तो मदर टेरेजा को टटोला, "आप इस जर्मन लड़की के साथ प्यार से रहती है?"

बोली, "हाँ, वह भी ईश्वर के लिए काम करती है और मैं भी, फिर प्यार क्यों न हो?" मैंने नश्तर चुभाया——"पर फ्रांस को हिटलर ने पददलित किया था, यह आप कैसे भूल सकती है?"

नश्तर तेज था, चुभन गहरी पर मदर का कलेजा उससे अछूता रहा। बोली, "हिटलर बुरा था, उसने लड़ाई छेड़ी, पर उससे इस लडकी

का भी घर ढह गया और मेरा भी ; हम दोनों एक।" 'हम दोनों एक' मदर टेरेजा ने झूम में इतने गहरे डूब कर कहा कि जैसे मैं उनसे उनकी लड़की को छीन रहा था और उन्होंने पहले ही दाँव में मुझे चारों खाने दे मारा।

मदर चली गयीं, मैं सोचता रहा : मनुष्य-मनुष्य के बीच मनुष्य ने ही कितनी दीवारें खड़ी की हैं—ऊँची दीवारें, मजबूत फौलादी दीवारें, भूगोल की दीवारें, जाति-वर्ग की दीवारें, कितनी मनहूस, कितनी नगण्य, पर कितनी अजेय !

क्रिस्ट हैल्ड के पिता जर्मनी में एक कालेज के प्रिंसिपल हैं और उसने अभी पाँच वर्षों के लिए ही सेवा का व्रत लिया है।

रोगिणी के गहरे काले बाल देखकर उसने कहा, "तुम्हारे काले बाल मेरे पिता के से हैं।" कहा कि वह स्मृतियों में खो सी गयी।

मुझे लगा कि मैं ही क्रिस्ट हैल्ड हूँ। अपने माता-पिता से हजारों मील दूर, एक अजनबी देश में, अकेली, खोयी, छली-सी और मेरी आँखें भर आयीं।

लड़की मेरे आँसुओं में डूब-डूब गयी और किनारा पाने को उसने जल्दी से उन्हें अपने रूमाल से पोंछ दिया। उसकी सदा हँसती आँखें सम हो नरम हो आयीं, पर जरा भी नम नहीं। मैंने पूछा, "घर से चलते समय रोयी थी तुम ?" उसका भोला उत्तर था, "ना माँ बहुत रोयी थी।"

फटी आँखों कुछ देर मैं उसे देखता रहा, तब कुछ बिस्किट उसे भेंट किये। बोली, "धन्यवाद, थैंकयू, ताँग शू।" वह अकसर हिन्दी अंग्रेजी जर्मन भाषाओं के शब्द मिलाकर बोलती है।

हम सब हँस पड़े और वह हँसती-हँसती भाग गयी।

मदर टेरेज़ा बातों के मूड मे थीं। मैंने उनके हृदय-मानस में चोर दरवाजे से झाँका—"मदर, घर से आने के वाद फिर आप घर नही गयी ? कभी मिलने-जुलने भी नहीं।" कान अपना काम कर चुके थे,

वाणी को अपना काम करना था, पर मदर ने उसकी राह मोड़ दी और तब मैंने सुनी यह कहानी :

कई वर्ष हुए फ्रान्स में विश्व-भर के पूजा-ग्रहों का एक सम्मेलन हुआ। भारत की दो मदर भी प्रतिनिधि होकर उस सम्मेलन में गयीं। वे फ्रान्स की ही थी, उनके माता-पिता फ्रान्स में ही थे। उन्हें पता था कि बरसों बाद हमारी पुत्रियाँ आ रही हैं।

दोनों माताएँ अपनी पुत्रियों का स्वागत करने जहाज पर आयीं, पर विचित्र बात यह हुई कि वे दोनों अपनी पुत्रियों को पहचान न पायीं और आपस मे कहती रहीं कि तुम्हारी बेटी कौन-सी है। अन्त में उनका नाम पूछा और तब गले मिलीं।

कहानी पूरी हुई, तो कई प्रश्न उठे, पर मदर टेरेजा उनके उठते न उठते भाग गयी। निश्चय ही उन दोनों अन-पहचानी पुत्रियों मे से एक वे स्वयं थी।

बस इतना ही एक दिन मैं उनसे और कहला सका।

"घर से बहुत चिट्ठी आती है तो मैं यहाँ के किसी स्थान का फोटो भेज देती हूँ।"

रोग पूरे उभार पर था, रोगी के लिए असह्य। मदर टेरेजा ने कहा, "तुम्हारे लिए आज विनती करूँगी।" उनका चेहरा उस समय भक्त की श्रद्धा से प्रोद्भासित हो उठा था।

रोगी ने कहा, "कल भी करना मदर।" मदर के स्वर में मिश्री ही मिश्री पर मिश्री कूजे की थी जो मिठास तो तुरन्त देती थी, पर घुलती तुरन्त नहीं और बल का प्रयोग हो तो मसूढ़े तक को छील देती है। बोली, "ना, कल उसके लिए करूँगी, जिसे सबसे अधिक कष्ट होगा।" जैसे हजार वाल्ट का बल्ब मेरी आँखों मे कौंध गया।

मैंने बहुतों को रूप से पाते देखा था, बहुतों को धन से और गुणों से भी बहुतों को पाते देखा था, पर मानवता के आँगन मे समर्पण और प्राप्ति का यह अद्भुत सौम्य स्वरूप आज अपनी ही आँखों देखा कि

कोई अपनी पीड़ा से किसी को पाये और किसी का उत्सर्ग सदा किसी की पीड़ा के लिए ही सुरक्षित रहे।

ऊपर के बरामदे में खड़े-खड़े मैंने एक जादू की पुड़िया देखी—जीती-जागती जादू की पुड़िया। आदमियों को मक्खी बनाने वाला कामरूप का जादू नहीं मक्खियों को आदमी बनाने वाला जीवन का जादू—होम की सबसे बुढ़िया मदर मार्गरेट। कद इतना नाटा कि उन्हें गुड़िया कहा जा सके, पर उनकी चाल में गजब की चुस्ती, क़दम में फुर्ती और व्यवहार में मस्ती; हँसी उनकी यों कि मोतियों की बोरी खुल पड़ी और काम यों कि मशीन मात माने। भारत में चालीस वर्षों से सेवा में रसलीन जैसे और कुछ उन्हें जीवन में अब जानना भी तो नहीं।

आपरेशन के लिए एक रोगी आया, ऐश-आराम में पला जीवन। कहने की बेचारे को आदत, सहने का उसे क्या पता, पर कष्ट क्या पात्र की क्षमता देखकर आता है? "मदर मर जाऊँगा।" उसने विह्वल होकर कहा। वातावरण चीत्कार की विह्वलता से भर गया, पर बूढ़ी मदर की हँसी के दीपक ने झपकी तक नहीं खायी।

बोलीं, "कुछ नहीं, कुछ नहीं, आज है एवरीथिग (सबकुछ), कल समथिंग (कुछ-कुछ) और बस तब नथिंग (कुछ नहीं)।" और वे इतने जोर से खिलखिलाकर हँसी कि आस-पास कोई होता तो झेंप जाता।

एक रोगी उन्होंने देखा—चिन्ता के गर्त से उठ-उभरती रोगिणी। जोर से चुटकियाँ बजाकर वे किलकीं—जि-उती, जि-उती। यह है उनका जी उठी, जी उठी।

यह अनुभव कितना चमत्कारी है कि यहाँ जो जितनी अधिक बूढ़ी है वह उतनी ही अधिक उत्फुल्ल, मुसकानमयी है। यह किस दीपक की जोत है? जागरूक जीवन की! लक्ष्यदर्शी जीवन की! सेवा-निरत जीवन की! अपने विश्वासों के साथ एकाग्र जीवन की। भाषा के भेद

रहे हैं, रहेंगे भी, पर यह जोत विश्व की सर्वोत्तम जोत है।

सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड का तबादला हो गया—अब वह धानी के भील सेवा केन्द्र में काम करेगी। ओह, उस जंगली जीवन में यह कर्पूरिका; पर कर्पूरिका तो अपने सौरभ में इतनी लीन है कि उसे स्वर्ग के अतिरिक्त और कुछ दीखता ही नहीं, सूझता ही नहीं।

वह हम लोगों को मिलने आयी—हँसती, खिलती, बिखरती और कुदकती। यहाँ से जाने का उसे विषाद नहीं, एक-एक नयी जगह देखने का चाव उसके रोम-रोम में, पर मुझे उसका जाना कचोट सा रहा था। वह दूसरे रोगियों से मिलने चली गयी।

इधर-उधर आते-जाते वह दो-तीन बार कमरे के बाहर से निकली, पर फिर एक बार भी उसने उधर नहीं झाँका। मैंने अपने से कहा, "कोई लाख उलझे, उसे किसी में नही उलझना है।"

और तब सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड का, सच यह है कि सिस्टर मदर वर्ग का निस्संग निर्लिप्त, निर्द्वन्द्व जीवन पूरी तरह मेरे मानस चक्षुओं में समा गया और मैंने फिर आप-ही-आप कहा—"सिस्टर क्रिस्ट हैल्ड, हम भारतवासी गीता को कण्ठ में रखकर धनी हुए, पर तुम उसे जीवन मे ले कृतार्थ हुई।"

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

प्रश्न-अभ्यास

१. आदर्श नर्स मे कौन-कौन से गुण होते हैं ? इस लेख से उदाहरण देकर बताइए।

२. मदर टेरेजा का परिचय अपने शब्दो मे दीजिए। उन्हे मदर कह कर क्यो सम्बोधित किया गया है ? लेखक इस विषय मे क्या तर्क प्रस्तुत करता है ?

३. मदर टेरेजा और क्रिस्ट हैल्ड से लेखक ने क्या कहा ? लेखक को उनसे क्या उत्तर मिला ? उनके उत्तरों से आप उनके हृदय की किन विशेषताओ की ओर आकर्षित होते है ?

४. मदर टेरेज़ा से आत्मीयता स्थापित करने के लिए लेखक ने किन प्रश्नों को उनसे पूछा और उसे क्या उत्तर मिला ?
५. पाँच ऐसे उदाहरण दीजिए जिनमे कविता जैसी आलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया हो। (एक उदाहरण "सूखे अधरों पर चाँदी की रेखा")
६. लेखक ने भारतवासियों की किन दुर्बलताओं और विदेशियों के किन गुणों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है ? ऐसा करने में उसका क्या उद्देश्य है ?
७. पारिवारिक और सामाजिक क्षेत्रों में नारी किन-किन रूपों में हमारे सामने आती है ? इनमे से कौन-सा रूप सबसे अधिक महान् है ?
८. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए :—
   (अ) 'मैंने भावना से·····बिखेर सकती हैं।'
   (इ) 'मैंने बहुतों को····सुरक्षित रहे।'
९. रिपोर्ताज किसे कहते हैं ? "प्रस्तुत निबन्ध एक सफल रिपोर्ताज है" इस कथन को स्पष्ट कीजिए।

महादेवी वर्मा (सन् १९०७)

महादेवी वर्मा का नाम लेते ही भारतीय नारी की शालीनता, गंभीरता, आस्था, साधना और कलाप्रियता साकार हो उठती है। वे जितनी श्रेष्ठ कवयित्री है, उतनी ही श्रेष्ठ गद्य-लेखिका भी। यह संयोग विरल ही होता है।

उनका विवाह बहुत छोटी आयु मे हो गया था। उनके पति डाक्टर थे। शिक्षा पूरी होने पर उन्होने अनुभव किया कि दाम्पत्य जीवन मे उनकी रुचि नही है। अत. वे पृथक् रहने लगी। वे सदैव प्रथम श्रेणी की छात्रा रही। उन्होने सन् १९३३ में संस्कृत मे एम० ए० इलाहाबाद विश्वविद्यालय से किया और उसी वर्ष 'प्रयाग महिला-विद्यापीठ' की प्राचार्या नियुक्त हो गयी। उनके जीवन पर महात्मा गाँधी का और उनकी कला-साधना पर कविगुरु रवीन्द्रनाथ का विशेष प्रभाव पड़ा है।

महादेवी जी की प्रसिद्ध काव्य-रचनाएँ है—१. **नीरजा**, २. **नीहार**, ३. **रश्मि**, ४. **सान्ध्य गीत**, ५. **दीपशिखा** और ६. **यामा**। उनकी गद्य-रचनाओं को तीन वर्गो मे बाँटा जा सकता है। विचारात्मक गद्य का नमूना **शृंखला की कड़ियाँ** में मिलता है। इसे एक वृहत् सामाजिक निबन्ध कह सकते है। विवेचनात्मक गद्य-शैली मे उन्होने अपने साहित्यिक विचार प्रकट किये है। इस गद्य का प्रयोग उनकी काव्य-रचनाओं की भूमिका मे तथा **साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध** नाम के संकलन मे है। इसमे उनका समीक्षक रूप प्रकट हुआ है। तीसरे प्रकार का गद्य विशेष चित्रात्मक, भावमय और कवित्वपूर्ण है जो उनके रेखाचित्रो तथा संस्मरणों मे है। इस शैली के प्रसिद्ध संकलन है '—१. **अतीत के चलचित्र**, २. **स्मृति की रेखाएँ** ३. **पथ के साथी**, और ४. **मेरा परिवार**। वे कुछ समय तक 'चाँद' नाम की मासिक पत्रिका की सम्पादिका भी रही थी। इनको सेक्सरिया पुरस्कार और मगला प्रसाद पारितोषिक प्राप्त हुए है। भारत सरकार ने इनको पद्म भूषण की उपाधि से सम्मानित किया है।

महादेवी जी की गद्य-शैली में दार्शनिक चिन्तन की गहराई, कवित्व की सम्वेदनशीलता और चित्रकार के रंगों और रेखाओं के रूप विद्यमान रहते है।

पूर्णतः संस्कृतमयी भाषा का प्रयोग करके भी उन्होने अपनी गद्य-शैली को कृत्रिम और क्लिष्ट नही बनने दिया है। कवित्व की सरलता और चित्रकला की सजीवता के कारण उनका गद्य सदैव सरस बना रहा है। इसका मुख्य कारण यह भी है कि उनमे पांडित्य प्रदर्शन का भाव नही है। उनका गद्य उनके स्वभाव का ही प्रतिबिम्ब है, इसीलिए वह स्वाभाविक और सजीव है। यह बात उनके संस्मरणों के विषय मे विशेषरूप से कही जा सकती है। उन्ही मे उनकी प्रतिनिधि गद्य-शैली है, जिसका अन्य लेखकों द्वारा अनुकरण भी किया गया और जिसके कारण उन्हे लोकप्रियता मिली है। इनमे रेखाचित्र, सस्मरण और निबध तीनों की ही शैलियों का मिला-जुला रूप है। जहाँ वे अपने परिचित व्यक्तियों की आकृति का चित्रात्मक परिचय देती है वहाँ रेखाचित्र की शैली उभरती है, जहाँ पात्रों के शील-स्वभाव और अपने मन पर पडने वाले प्रभाव का परिचय देती है वहाँ सस्मरण का स्वरूप सामने आता है, और जहाँ वे बीच-बीच में सामाजिक, साहित्यिक आदि प्रश्नों को उठा लेती है वहाँ इन लेखो मे निबन्धात्मकता का पुट भी आ जाता है। महादेवी जी ने उर्दू-फारसी और अग्रेजी शब्दो का प्रयोग बहुत कम किया है। कही-कही ग्रामीण बोलचाल के शब्द पात्रो के ही मुख से निकले हुए अवश्य प्रयोग किये है जैसे भक्तिन की पूर्वी बोली और चीनी भाई की अटपटी हिन्दुस्तानी। संस्कृत के तत्सम शब्दो के बीच सरल और छोटे शब्दों के प्रयोग द्वारा तथा लम्बे गुम्फित वाक्यो के बीच कुछ छोटे सरल वाक्यों द्वारा उन्होने अपनी गद्य-शैली मे एक कलात्मक संतुलन का निर्माण किया है।

इन रेखाचित्रमय सस्मरणात्मक निबन्धों में कुली से लेकर महाकवि तक, घर के आँगन से लेकर पर्वत-शिखरों तक और हरिण से लेकर गिलहरी तक का चित्रमय जीवन समाया हुआ है।

प्रस्तुत लेख **पथ के साथी** शीर्षक संस्मरणात्मक निबधों की प्रस्तावना या पहला निबन्ध है। इसमे लेखिका ने कवीन्द्र रवीन्द्र से अपने तीन साक्षात्कारों का वर्णन किया है। इसके साथ ही उनकी महामानवता को श्रद्धाजलि अर्पित करने के बहाने जीवन-द्रष्टा महान् साहित्यकारो को प्रणाम किया है। 'पथ के साथी' मे केवल उन साहित्यकारों के ही साक्षात्कारों का संग्रह है जो एक ही युग मे साथ-साथ साहित्य के पथ पर चले है। लेखिका ने अन्य सभी सस्मरणो के समान इसमे कविगुरु के बाहरी और भीतरी व्यक्तित्व की सूक्ष्म झाँकी प्रस्तुत की है। उनके रूप की भव्यता, वेश की उज्ज्वलता, स्वभाव की सौम्यता, आचरण

की पवित्रता, वाणी की सगीतमयता और सम्पूर्ण जीवन में कला की व्यापकता विविध प्रकार के वाक्य-विन्यास और शब्द-प्रयोगों द्वारा चित्रित की गयी है। उनके आवास, परिवेश और पर्यावरण को भी लेखिका ने शब्दो मे साकार कर दिया है। हिमालय के शिखरो मे रामगढ स्थित रवीन्द्र के एक बगले का वर्णन विशेष मार्मिक है, जहाँ कवि के प्रकृति-प्रेम, सन्तति-प्रेम और मानव-प्रेम की स्मृतियाँ अवशिष्ट थी। इस बगले के तत्कालीन स्वामी एक अग्रेज की शालीनता का दृश्य भी सामने आया है। शान्तिनिकेतन की कवि-कुटिया 'श्यामली' मे और शान्तिनिकेतन के निमित्त धन संग्रह के लिए रगमच पर सूत्रधार की भूमिका मे उपस्थित होते हुए लेखिका ने उनके दर्शन किये हैं। दिव्य-जीवन, महान् साहित्य और श्रेष्ठ कला के भी विषय में लेखिका ने अपने विचार बीच-बीच मे पिरोकर सस्मरण मे निबन्धत्व का पुट दे दिया है।

प्रणाम

कवीन्द्र रवीन्द्र उन साहित्यकारों में थे जिनके व्यक्तित्व और साहित्य में अद्‌भुत साम्य रहता है। जहाँ व्यक्ति को देखकर लगता है मानो काव्य की व्यापकता ही सिमट कर मूर्त हो गयी है और काव्य से परिचित होकर जान पड़ता है मानो व्यक्ति ही तरल होकर फैल गया है।

मुख की सौम्यता को घेरे हुए वह रजत आलोक-मंडल जैसा केशकलाप। मानो समय ने ज्ञान को अनुभव के उजले झीने तन्तु में कातकर उससे जीवन का मुकुट बना दिया हो। केशों की उज्ज्वलता के लिए दीप्त दर्पण जैसे माथे पर समानान्तर रहकर साथ चलनेवाली रेखाएँ जैसे लक्ष्य-पथ पर हृदय के विश्राम-चिह्न हों।

कुछ उजली भृकुटियों की छाया में चमकती हुई आँखें देखकर हिम-रेखा से घिरे अथाह नील जल-कुण्डों का स्मरण हो आना ही सम्भव था। दृष्टि-पथ की बाह्य सीमा छूते ही वह जीवन के रहस्य-कोष-सी आँखे, एक स्पर्श-मधुर सरलता राशि-राशि बरसा देती थीं अवश्य, परन्तु उस परिधि के भीतर पैर धरते ही वह सहज आमन्त्रण दुर्लंघ्य सीमा बन कर हमारे अन्तरतम का परिचय पूछने लगता था। पुतलियों की श्यामता से आती हुई रश्मि-रेखा जैसी दृष्टि से हमारे हृदय का निगूढ़तम परिचय भी न छिप सकता था और न बहुरूपिया बन पाता था।

अतिथि का हृदय यदि अपने मुक्त स्वागत का मूल्य नहीं आँक सकता, उसकी गहराई की थाह नही ले सकता तो उसे, उस असाधारण जीवन के परिचय भरे द्वार से अपरिचित ही लौट आना पड़ता था।

प्रत्येक बार पलकों का गिरना-उठना मानो हमीं को तोलने का क्रम था। इसी से हर निमिष के साथ कोई अपने-आपको सहृदय कलाकार के एक पग और निकट पाता था और कोई अपने-आपको एक पग और दूर।

उस व्यक्तित्व की, अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में फैली हुई विशालता, सामर्थ्य में और अधिक सघन होकर किसी को उद्धत होने का अवकाश नही देती, उसकी सहज स्वीकृति किसी को उदासीन रहने का अधिकार नही सौपती और उसकी रहस्यमयी स्पष्टता किसी को कृत्रिम बन्धनों से नहीं घेरती। जिज्ञासु जब कभी साधारण कुतूहल में बिछलने लगता था तब वह स्नेह-तरलता हिम का दृढ़ स्तर बन जाने वाले जल के समान कठिन होकर उसे ठहरा लेना नही भूलती। इसी से उस असाधारण साधारणता के सम्मुख हमें यह समझते देर नहीं लगती थी कि मनुष्य मनुष्य को कुतूहल की संज्ञा देकर स्वयं भी अशोभन बन जाता है।

प्रशान्त चेतना के बन्धन के समान, मुख पर बिखरी रेखाओं के बीच से उठी हुई सुडौल नासिका को गर्व के प्रमाणपत्र के अतिरिक्त कौन-सा नाम दिया जावे! पर वह गर्व मानो मनुष्य होने का गर्व था, इतर अहंकार नही; इसी से उसके सामने मनुष्य, मनुष्य के नाते प्रसन्नता का अनुभव करता था, स्पर्धा या ईर्ष्या का नही।

दृढता का निरन्तर परिचय देने वाले अधरों से जब हँसी का अजस्र प्रवाह बह चलता था तब अभ्यागत की स्थिति वैसी ही हो जाती थी जैसी अडिग और रन्ध्रहीन शिला से फूट निकलने वाले निर्झर के सामने सहज है। वह मुक्त हास स्वयं बहता, हमे बहाता तथा अपने हमारे बीच के विषम और रूखे अन्तर को अपनी आर्द्रता से भर कर कम कर देता था। उसका थमना हमारे लिए एक संगीत-लहरी का टूट जाना था जो अपनी स्पर्शहीनता से ही हमारे भावों को छू-छूकर जगाती हुई बह जाती है। वाणी और हास के बीच की निस्तब्धता

में हमें उस महान् जीवन के संघर्ष और श्रान्ति का एक अनिर्वचनीय बोध होने लगता था, परन्तु वह बोध, हार-जीत की न जाने किस रहस्यमय सन्धि में खड़े होकर दोहराने तिहराने लगता था.........
'तुम इसे हार न कहना, क्लान्ति न मानना ।'

अपनी कोमल उँगलियों से, असंख्य कलाओं को अटूट बन्धन में बाँधे हुए अपने प्रत्येक पद-निक्षेप को, जीवन की अमर लय का ताल बनाये हुए कलाकार जब आँखों से ओझल हो जाता था तब हम सोचने लगते, हमने व्यक्ति देखा है या किसी चिरन्तन राग को रूपमय !

युग के उस महान् सन्देशवाहक को मैंने तीन विभिन्न परिवेशों में देखा है और उनसे उत्पन्न अनुभूतियाँ कोमल प्रभात, प्रखर दोपहरी और कोलाहल मे विश्राम का संकेत देती हुई सन्ध्या के समान हैं ।

महान् साहित्यकार अपनी कृति मे इस प्रकार व्याप्त रहता है कि उसे कृति से पृथक् रखकर देखना और उसके व्यक्तिगत जीवन की सब रेखाएँ जोड़ लेना कष्ट-साध्य ही होता है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता और दूसरे को नापने में पहला नप जाता। वैसे ही जैसे घट के जल का नाप-तोल घट के साथ है और उसे बाहर निकाल लेने पर घट के अस्तित्व-अनस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

वचपन मे जैसे रामचरितमानस के दोहे-चौपाइयों में तिलक-तुलसी-कंठी युक्त गोस्वामी जी का चित्र ही नहीं दृष्टिगत हुआ, रघुवंश के कथाक्रम में जैसे शिखा, उपवीत युक्त कवि-कुलगुरु कालिदास की जीवन-कथा अपरिचित रही, वैसे ही गीतांजलि के मधुर गीतों में मुझे कवीन्द्र रवीन्द्र की सुपरिचित दुग्धोज्ज्वल दाढ़ी फहराती हुई नही मिली। कथा का सूत्र टूटने पर ही श्रोता कथा कहने वाले के अस्तित्व का स्मरण करता है ।

वस्तुतः कवीन्द्र के व्यक्तिरूप और उनके व्यक्तिगत जीवन का अनुमान मुझे जिन परिस्थितियों में हुआ, उन्हे नितान्त गद्यात्मक ही कहा जायगा ।

हिमालय के प्रति मेरी आसक्ति जन्मजात है। उसके पर्वतीय अंचलों में मौन हिमानी और मुखर निर्झरों, निर्जन वन और कलरव-भरे आकाश वाला रामगढ़ मुझे विशेष रूप से आकर्षित करता रहा है। वहीं नन्दा देवी, त्रिशूली आदि हिम-देवताओं के सामने निरन्तर प्रणाम में समाधिस्थ जैसे एक पर्वत-शिखर के ढाल पर कई एकड़ भूमि के साथ एक छोटा-सा बँगला कवीन्द्र का था जो दूर से उस हरीतिमा में पीले केसर के फूल जैसा दिखायी देता था। उसमें किसी समय वे अपनी रोगिणी पुत्री के साथ रहे थे और संभवतः वहाँ उन्होंने शान्ति-निकेतन जैसी सस्था की स्थापना का स्वप्न भी देखा था; पर रुग्ण पुत्री की चिरविदा के उपरान्त रामगढ भी उनकी व्यथा भरी स्मृतियों का ऐसा संगी बन गया जिसका सामीप्य व्यथा का सामीप्य बन जाता है। परिणामतः उनका बॅगला किसी अंग्रेज अधिकारी का विश्राम हो गया।

जिस बँगले मे मै ठहरा करती थी, उसमें मुझे अचानक एक ऐसी आलमारी मिल गयी जो कभी कवीन्द्र के उपयोग में आ चुकी थी। उसके असाधारण रंग, अनोखी बनावट तथा बन-तुलसी की गन्ध से सुवासित और वुरुश के फूलों की लाल और जंगली गुलाव की सफेद पंखुड़ियों का पता देने वाली दराजों ने मौन में जो कहा उसे मेरी कल्पना ने रंगीन रेखाओं में बाँध लिया। हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में भी कल्पना और अनुमान अपना धूप-छाँही ताना-बाना बुनते रहते हैं। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान की सीमा से परे निर्बंध सृजन का अधिकार मिल सके तो उनकी स्वच्छन्द क्रियाशीलता के सम्वन्ध में कुछ कहना ही व्यर्थ है।

बॅगले के अंग्रेज स्वामी ने अत्यन्त शिष्टाचारपूर्वक मुझे भीतर-वाहर सब दिखा दिया, पर उसके सौजन्य के आवरण से विस्मय भी झलक रहा था। सम्भवतः ऐसे दर्शनार्थी विरल होने के कारण। बरामदा, जिसकी छोटे-छोटे शीशोंमय खिड़कियों पर पड़कर एक किरण

अनेक ज्योति-बूँदों में बिखर-सँवर कर भीतर आती थी, द्वार पर सुकुमार सपनों जैसी खड़ी लताएँ जिनका हर ऋतु अपने अनुरूप श्रृंगार करती थी, देवदारु के वृक्ष जिनकी शाखाएँ निर्वाध प्रतीक्षा में झुकी हुई-सी लगती थीं; आदि ने कवि-कथा की जो संकेतलिपि प्रस्तुत की, उसमें आस-पास रहने वाले ग्रामीणों ने अपनी स्मृति से मानवी रंग भर दिया। किसी वृद्ध ने सजल आँखों के साथ कहा कि उस महान् पड़ोसी के बिना उसके बीमार पुत्र की चिकित्सा असम्भव थी। किसी वृद्धा ग्वालिन ने अपनी बूढ़ी गाय पर हाथ फेरते हुए तरल स्वर में बताया कि उनकी दवा के अभाव में उसकी गाय का जीवन कठिन था। किसी अछूत शिल्पकार ने कृतज्ञता से गद्गद् कण्ठ से स्वीकार किया कि उनकी सहायता के बिना उस जली हुई झोपड़ी का फिर बन जाना कल्पना की बात थी।

सम्बलहीन मानव से लेकर खड्ड में गिर कर टाँग तोड़ लेने वाले भूटिया कुत्ते तक के लिए उनकी चिन्ता स्वाभाविक और सहायता सुलभ रही, इस समाचार ने कल्पना-विहारी कवि में सहृदय पड़ोसी और वात्सल्य भरे पिता की प्रतिष्ठा कर दी। इसी कल्पना-अनुमानात्मक परिचय की पृष्ठभूमि में मैंने अपने विद्यार्थी जीवन में रवीन्द्र को देखा।

जैसे धृतराष्ट्र ने लौह-निर्मित भीम को अपने अंक में भरकर चूर-चूर कर दिया था—वैसे ही प्रायः पार्थिव व्यक्तित्व कल्पना-निर्मित व्यक्तित्व को खण्ड-खण्ड कर देता है। पर इसे मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ कि रवीन्द्र के प्रत्यक्ष दर्शन ने मेरी कल्पना-प्रतिमा को अधिक दीप्त सजीवता दी। उसे कहीं से खण्डित नहीं किया। पर उस समय मन में कुतूहल का भाव ही अधिक था जो जीवन के शैशव का प्रमाण है।

दूसरी बार, जब उन्हे शान्तिनिकेतन में देखने का सुयोग प्राप्त हुआ तब मैं अपना कर्मक्षेत्र चुन चुकी थी। वे अपनी मिट्टी की कुटी

श्यामली मे बैठे हुए ऐसे जान पड़े मानो काली मिट्टी में अपनी उज्ज्वल कल्पना उतारने मे लगा हुआ कोई अद्भुतकर्मा शिल्पी हो।

तीसरी बार उन्हे रंगमंच पर सूत्रधार की भूमिका में उपस्थित देखा। जीवन की सन्ध्या-वेला मे शान्तिनिकेतन के लिए उन्हे अर्थ-संग्रह में यत्नशील देखकर न कुतूहल हुआ न प्रसन्नता; केवल एक गम्भीर विषाद की अनुभूति से हृदय भर आया। हिरण्य-गर्भा धरतीवाला हमारा देश भी कैसा विचित्र है! जहाँ जीवन-शिल्प की वर्णमाला भी अज्ञात है वहाँ वह साधनों का हिमालय खड़ा कर देता है और जिसकी उँगलियों मे सृजन स्वयं उतर कर पुकारता है उसे साधन शून्य रेगिस्तान मे निर्वासित कर जाता है। निर्माण की इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती है कि शिल्पी और उपकरणों के बीच मे आग्नेय रेखा खीचकर कहा जाय कि कुछ नही बनता या सब कुछ बन चुका!

कल्पना के सम्पूर्ण वायवी संसार को सुन्दर-से-सुन्दरतम बना लेना जितना सहज है, उसके किसी छोटे अंश को भी स्थूल मिट्टी मे उतार कर सुन्दर बनाना उतना ही अधिक कठिन रहता है। कारण स्पष्ट है। किसी की सुन्दर कल्पना का अस्तित्व किसी को नही अखरता, अत. किसी से उसे संघर्ष नही करना पड़ता। पर प्रत्यक्ष जीवन मे तो एक के सुन्दर निर्माण से दूसरे के कुरूप निर्माण को हानि पहुँच सकती है। अतः संघर्ष सृजन की शपथ बन जाता है। कभी-कभी तो यह स्थिति ऐसी सीमा तक पहुँच जाती है कि संघर्ष साध्य का भ्रम उत्पन्न कर देता है।

अपनी कल्पना को जीवन के सब क्षेत्रों मे अनन्त अवतार देने की क्षमता रवीन्द्र की ऐसी विशेषता है जो अन्य महान् साहित्यकारों में भी विरल है।

भावना, ज्ञान और कर्म जब एक सम पर मिलते हैं तभी युग-प्रवर्त्तक साहित्यकार प्राप्त होता है। भाव में कोई मार्मिक परिष्कार

लाना, ज्ञान में कुछ सर्वथा नवीन जोड़ना अथवा कर्म में कोई नवीन लक्ष्य देना अपने आप में बड़े काम हैं अवश्य; परन्तु जीवन तो इन सब का सामञ्जस्यपूर्ण संघात है, किसी एक में सीमित और दूसरों से विच्छिन्न नहीं। बुद्धि, हृदय अथवा कर्म के अलग-अलग लक्ष्य संसार को दार्शनिक, कलाकार या सुधारक दे सकते हैं, परन्तु इन सब की समग्रता नहीं। जो जीवन को सब ओर से एक साथ स्पर्श कर सकता है उस व्यक्ति को युग-जीवन अपनी सम्पूर्णता के लिए स्वीकार करने पर बाध्य हो जाता है। और ऐसा, व्यापकता में मार्मिक स्पर्श साहित्य में जितना सुलभ है उतना अन्यत्र नहीं। इसी से मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना प्रिय और दूरगामी साथी होता है उतना केवल दार्शनिक, वैज्ञानिक या सुधारक नहीं हो पाता। कवीन्द्र में विश्व-जीवन ने ऐसा ही प्रियतम सहयात्री पहचाना, इसी से हर दिशा में उन पर अभिनन्दन के फूल बरसे, हर कोने में मानवता ने उन्हें अर्घ्य दिया और युग के श्रेष्ठतम कर्मनिष्ठ बलिदानी साधक ने उनके समक्ष स्वस्तिवाचन किया।

यह सत्य है कि युग के अनेक अभावों की अभिशप्त छाया से वे मुक्त रह सके और जीवन के प्रथम चरण में ही उनके सामने देश-विदेश का इतना विस्तृत क्षितिज खुल गया जहाँ अनुभव के रंगों में पुरानापन सम्भव नहीं था। परन्तु इतना ही सम्बल किसी को महान् साहित्यिक बनाने की क्षमता नहीं रखता। थोड़े जलवाले नदी-नाले कहीं भी समा सकते हैं, परन्तु सम्पूर्ण वेग के साथ सहस्रों धाराओं में विभक्त होकर आकाश की ऊँचाई से धरती के विस्तार में उतरने-वाली गंगा के समाने के लिए शिव का जटाजूट ही आवश्यक होगा और ऐसा शिवत्व केवल बाह्य सज्जा या सम्बल में नहीं रहता।

रवीन्द्र ने जो कुछ लिखा है उसका विस्तार और परिमाण हृदयंगम करने के लिए हमें यह सोचना पड़ता है कि उन्होंने क्या नही लिखा।

जीवन के व्यापक विस्तार में वहुत कम ऐसा मिलेगा जिसे, उन्होंने नया आलोक फेककर नही देखा और देखकर जिसकी नयी व्याख्या नही की। जीवन के व्यावहारिक धरातल पर अथवा सूक्ष्म मनोजगत मे उन्हें कुछ भी इतना क्षुद्र नही जान पड़ा जिसकी उपेक्षा कर बड़ा बना जा सके, कोई भी इतना अपवित्र नही मिला जिसके स्पर्श के बिना व्यापक पवित्रता की रक्षा हो सके और कुछ भी इतना विच्छिन्न नहीं दिखायी दिया जिसे पैरों से ठेलकर जीवन आगे वढ सके।

इसी से वे कहते है "तुमने जिसको नीचे फेंका वही आज तुम्हें पीछे खीच रहा है, तुमने जिसे अज्ञान और अन्धकार के गह्वर मे छिपाया वही तुम्हारे कल्याण को ढक कर, विकास मे, घोर बाधाएँ उत्पन्न कर रहा है।"

क्षुद्र कहे जाने वाले के लिए उनका दीप्त स्वर बार-बार ध्वनित-प्रतिध्वनित होता रहता है, "तुम सब बड़े हो, अपना दावा पेश करो। इस झूठी-दीनता-हीनता को दूर करो।"

विशाल, शिव और सुन्दर के पक्ष का समर्थन सब कर सकते है क्योकि वे स्वतः प्रमाणित है। परन्तु, विशालता, शिवता और सुन्दरता पर, क्षुद्र, अशिव और विरूप का दावा प्रमाणित कर उन्हे विशाल, शिव और सुन्दर में परिवर्तित कर देना किसी महान् का ही सृजन हो सकता है।

अमृत को अमृत और विष को विष रूप में ग्रहण करके तो सभी दे सकते हैं। परन्तु विष में रासायनिक परिवर्तन कर और उसके तत्त्वगत अमृत को प्रत्यक्ष करके देना किसी विदग्ध वैद्य का ही कार्य रहेगा।

कवीन्द्र में ऐसी क्षमता थी और उनकी इस सृजन-शक्ति की प्रखर विद्युत को आस्था की सजलता सँभाले रहती थी। यह बादल भरी विजली जब धर्म की सीमा छू गयी तब हमारी दृष्टि के सामने

फैले रूढ़ियों के रन्ध्रहीन कुहरे में विराट् मानव-धर्म की रेखा उद्भासित हो उठी। जब वह साहित्य में स्पन्दित हुई तब जीवन के मूल्यों की स्थापना के लिए, तत्त्व सत्यमय, सत्य शिवमय और शिव सौन्दर्यमय होकर मुखर हो उठा। जब चिन्तन को उसका स्पर्श मिला तब दर्शन की भिन्न रेखाएँ तरल होकर समीप आ गयी।

उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा जो पहले नही कहा गया था, पर इस प्रकार सब कुछ कहा है जिस प्रकार किसी अन्य युग में नहीं कहा गया।

साहित्य को उसकी बाह्य रूपात्मकता में तोलना-नापना सहज है। किसने कितने उपन्यास लिखे, किसने कितने नाटक, किसके महाकाव्यों का परिणाम क्या है, किसके गीतों की संख्या कितनी है, किसकी शैली कैसी है, किसका छन्द कैसा है आदि में जो तोल-नाप है वह साहित्य की आत्मा को नहीं तोलता-नापता। ऊँचे-नीचे कगार या सूखे-हरे तट नदी की सीमा बनाते हैं, पर नदी नहीं बना सकते। इतना ही नहीं साहित्यकार की सभी उपलब्धियाँ भी समान नहीं होतीं। गोताखोर समुद्र के अतल गर्भ में न जाने कितने शंख, घोंघे, सीप, सेवार आदि लाकर तट पर ऊँचा पहाड़ बना देता है। यह भी उसकी उपलब्धि ही कही जायगी, पर उसके अनेक प्रयासों का एक मूल्यांकन मोती की उपलब्धि मात्र है।

केवल महान् जीवन-द्रष्टा साहित्यकार की ही हर उपलब्धि का महत्त्व होता है। और रवीन्द्र ऐसे ही द्रष्टा साहित्यकार हैं। वे क्षुद्र लगने वाले मानव की महामानवता के वैतालिक हैं, अतः हर युग के मानव की विजय-यात्रा के साथी रहेंगे। वे अपराजेय विश्वास के स्वर में कहते हैं, "अरुण आभा के अन्धकार में आवृत रहने पर भी जिस प्रकार प्रभातकालीन पक्षी गाकर सूर्योदय की घोषणा करता है, उसी प्रकार मेरा अन्तःकरण भी वर्तमान युग के सघन अन्धकार में गा-गा कर घोषित कर रहा है कि हमारा उज्ज्वल और महान् भविष्य

समीप है। उसके अभिनन्दन के लिए हमें प्रस्तुत होना चाहिए।"

जो तर्क से यह सिद्ध करते है कि मनुष्य पशु के समान परस्पर युद्ध करते रहेगे, उन्हे वे उत्तर देते है, "मै उस पुरातन युग का स्मरण दिलाता हूँ जब प्रकृति भीमकाय जीवों (राक्षसों) को जन्म देती थी। उस समय कौन साहसी यह विश्वास कर सकता था कि उन भीषण दानवों का विनाश सम्भव है, किन्तु उसके उपरान्त एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई।

अचानक शारीरिक विशालता के निशोत्सव में मानव—निःशस्त्री, असहाय, नग्न और कोमल-काय मानव प्रकट हुआ। उसने अपनी शक्तियों को पहिचाना और बुद्धि-बल से जड़-सत्ता का सामना किया। दुर्बल शरीरवाला मनुष्य भीमकाय दानवों पर विजयी हुआ........."

मानव आत्मा का जयघोष करो।

मनुष्य की स्वभावगत महानता की उन्होंने केवल कल्पना नहीं की थी, वरन् अथक अन्वेषण करके उसे अपने साहित्य से सिद्ध भी किया है। इसी से जन-साधारण की चर्चा में वे साहसपूर्वक घोषणा करते है। 'मुझे जन तो बहुत मिले पर साधारण कोई नही मिला है।'

सत्य है, हीरे को बहुमूल्य मान लेने पर उसका कौन-सा खण्ड मूल्यहीन कहा जायगा!

जिनकी छाया मे हमारे युग की यात्रा आरम्भ हुई है, जिनकी वाणी मे हमने अपने नये जीवन की प्रथम पुकार सुनी है और जिनकी दृष्टि ने अन्धकार को भेदकर हमे भविष्य का पहला उज्ज्वल संकेत दिया है, उनके अवश्यम्भावी अभाव की कल्पना भी हमारे लिए सह्य नही होती। इसी से रवीन्द्र के महाप्रयाण ने सब को स्तब्ध कर दिया। मृत्यु उनके निकट आतंक का कारण नही थी, क्योंकि जिस भारतीय विचारधारा के वे आस्थावान व्याख्याकार थे उसमें जीवन अनन्त है।

वे अपनी एक कविता में गाते है, 'आज विदा-वेला में मै स्वीकार

करूँगा कि वह मेरे लिए विपुल विस्मय का विषय था। आज मैं गाऊँगा, हे मेरे जीवन! हे मेरे अस्तित्व के सारथी! तुमने अनेक रणक्षेत्र पार किये हैं। आज नवीनतर विजय-यात्रा के लिए मुझे मृत्यु के अन्तिम रण में ले चलो।'

*　　　*　　　*

इसी बीच कलकत्ते से एक बन्धु आये। मौन भाव से उन्होंने मिट्टी के पात्र में संगृहीत, कवीन्द्र के पार्थिव अवशेष की भस्म मुझे भेंट की।

भीड़, आँधी, पानी से संघर्ष कर इसे उन्होंने मेरे लिए प्राप्त किया है, सोच कर हृदय भर आया। मानस-पट पर शान्तिनिकेतन का प्रार्थना-भवन उदय हो गया। उसके चारों ओर लगे रंग-बिरंगे शीशों से छनकर आता हुआ आलोक भीतर इन्द्रधनुषी ताना-बाना बुन देता था। संगमरमर की चौकी पर रखे हुए चम्पक-फूलों पर धूप-धूम भ्रमरों के समान मँडराता था। उसके पीछे बैठे कवीन्द्र की स्थिर दिव्य आकृति और उससे सब ओर फैलती हुई स्वर की निस्तब्ध तरंग माला।

तो क्या यह उसी वीणा का भस्मशेष है जिसके तारों पर दीपक-राग लहराता था?

जान पड़ा जैसे उस साहित्यकार-अंग्रेज ने हमारे अनजान में ही हमारे छोर में अपना उत्तराधिकार बाँधकर विदा ली है। दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, सूर्य जब अपना आलोकवाही कर्त्तव्य उसे सौंप कर चुपचाप डूब जाता है तब जल उठना ही उसके अस्तित्व की शपथ है—जल उठना ही उसका जानेवाले को प्रणाम है।

—महादेवी वर्मा

प्रश्न-अभ्यास

१. रेखाचित्र और संस्मरण मे क्या अन्तर और समानता होती है ? क्या इनमे निवन्ध-शैली का भी पुट होता है ? इस लेख से उदाहरण देकर तीनों की विशेषताओं को बताइए।

२. इस लेख मे महादेवी जी के व्यक्तित्व की झलक निम्नलिखित विन्दुओं के आधार पर सोदाहरण समझाइए।

(अ) नारी-स्वभाव
(आ) चित्रकला का अनुराग
(इ) प्रकृति-प्रेम
(ई) करुणा
(उ) वैराग्य

३. लेखिका ने श्रेष्ठ साहित्यकार के क्या गुण वताये हैं ? अपनी भाषा मे समझाइए।

४. अपने को पर्यटक मान कर रामगढ स्थित रवीन्द्र के बँगले का वर्णन कीजिए।

५. निम्नलिखित प्रश्नो के लघु उत्तर दीजिए :—

(अ) रामगढ कहाँ है ? कवि ने यहाँ बँगला क्यो वनाया था ? फिर उसे छोड़ क्यो दिया ?
(आ) रवीन्द्रनाथ सूत्रधार की भूमिका मे क्यो उतरे थे ?

६. निम्नलिखित वाक्यो एव अवतरणो की व्याख्या कीजिए :—

(१) 'प्रत्येक वार पलको का गिरना-उठना मानों हमी को तोलने का क्रम था।'
(२) 'अपनी कोमल उँगलियों से...... 'चिरन्तन राग को रूपमय।'
(३) 'जिसकी उँगलियो मे सृजन स्वय उतर कर पुकारता है।'
(४) 'हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान में'' .... कुछ कहना ही व्यर्थ है।'
(५) 'भावना, ज्ञान और कर्म.......विछिन्न नही।'
(६) 'अमृत को अमृत · ·· वैद्य का ही कार्य रहेगा।'
(७) 'कवीन्द्र मे ऐसी क्षमता · ·· · 'समीप आ गयी।'

७. लेखिका ने रवीन्द्रनाथ की किन विशेपताओ को प्रकट किया हे ?

८. प्रस्तुत निवन्ध के आधार पर महादेवी की भाषा-शैली की तीन प्रमुख विशेपताओ को सोदाहरण समझाइए।

९. 'महादेवी का गद्य भी काव्यमय होता है' इस उक्ति की व्याख्या कीजिए।

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी (सन् १९०७)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के अत्यन्त सम्मानित वयोवृद्ध साहित्यकार हैं। 'आचार्य' पद उनके नाम के साथ सहज रूप मे जुडा हुआ है। उनका जन्म एक विद्वान् ब्राह्मण-परिवार मे ज़िला बलिया के दूबे का छपरा ग्राम मे हुआ।

संस्कृत और ज्योतिष की शिक्षा उन्हे उत्तराधिकार मे प्राप्त हुई। सन् १९३० मे इन्होने काशी विश्वविद्यालय से ज्योतिषाचार्य की उपाधि प्राप्त की। इनकी प्रतिभा का विशेष स्फुरण कविगुरु रवीन्द्रनाथ की विश्वविख्यात संस्था शान्तिनिकेतन मे हुआ, जहाँ यह सन् १९४० से १९५० तक हिन्दी भवन के निदेशक के रूप मे रहे। यही इनके विस्तृत स्वाध्याय और सृजन का शिलान्यास हुआ। सन् १९४९ में लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हे डी० लिट्० की उपाधि से सम्मानित किया। सन् १९५० मे यह काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष नियुक्त हुए। सन् १९५७ मे इन्हे पद्म-भूषण की उपाधि से विभूषित किया गया। सन् १९५८ में यह राष्ट्रीय ग्रंथ न्यास के सदस्य बने। इसके बाद सन् १९६० से १९६६ तक यह पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर और अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् इन्होने भारत सरकार की हिन्दी सम्बन्धी विविध योजनाओं का दायित्व ग्रहण किया। इस समय यह उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी ग्रंथ अकादमी से सम्बन्धित हैं।

आचार्य द्विवेदी का साहित्य बहुत विस्तृत है। कविता और नाटक के क्षेत्र मे उन्होंने प्रवेश नही किया। उनकी कृतियाँ वर्गीकरण के आधार पर निम्न-लिखित हैं :—

(अ) इतिहास :—१. **हिन्दी साहित्य**, २. **हिन्दी साहित्य का आदिकाल**, ३. **हिन्दी साहित्य की भूमिका**।

(आ) निबन्ध संग्रह :—४. **अशोक के फूल**, ५. **कुटज**, ६. **विचार-प्रवाह**, ७. **विचार और वितर्क**, ८. **कल्पलता**, ९. **आलोक पर्व**।

(इ) साहित्यिक, शास्त्रीय और आलोचनात्मक ग्रंथ :—१०. **कालिदास की**

लालित्य योजना, ११. सूरदास, १२. कबीर, १३. साहित्य सहचर, १४. साहित्य का मर्म ।

(ई) उपन्यास :—१५. बाणभट्ट की आत्मकथा, १६. चारु चन्द्र लेख, और १७. पुनर्नवा ।

हिन्दी के उच्चस्तरीय ललित निवन्धकारो मे आचार्य द्विवेदी का मूर्धन्य स्थान है। आत्माभिव्यजना के साथ-साथ साहित्य, सस्कृति, प्रकृति-सुषमा, लोक-जीवन और समकालीन समस्याओ का मिला-जुला रसास्वादन कराने मे उनकी शैली अभिनव है। उनके निवधों मे एक ओर महाभारत, कालिदास, बाणभट्ट आदि के संस्कृत ग्रथों की सूक्तियाँ सँजोयी रहती है तो दूसरी ओर रवीन्द्र, कबीर, रज्जब, सूर, तुलसी, आदि के वगला और हिन्दी कवियो की वाणी की छटा भी दृष्टिगोचर होती चलती है। साथ ही कही-कही भारतीय संस्कृति के स्मृति-चिह्न उभर कर आते हैं, तो कही भारत की निसर्ग शोभा का सदेश लेकर अशोक के फूल, देवदारु की छाया और कुटज की शाखाएँ झाँक जाती है। उनका उन्मुक्त व्यक्तित्व रह-रहकर उनके निबन्धों मे विनोद की हिलोर उठाता चलता है, पर कभी-कभी वे अपनी संस्कृति की विस्मृति अथवा मानव के पतन के विषाद से संजीदा भी दिखायी पडते है। देश-प्रेम और मानव-प्रेम का व्यापक चित्र उनके साहित्य के पटल पर अंकित है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने उनके निबन्धो की विशेषता बताते हुए लिखा है—"**द्विवेदी जी बहुश्रुत है और है कथाकौतुकी भी। उनके निबन्धों का सबसे मुख्य गुण है किसी एक विषय को लेकर अनेक विचारों को छेड़ देना—जिस प्रकार वीणा के तार को छेड़ने से बाकी सब तार झंकृत हो उठते है, उसी प्रकार उस एक विषय को छूते ही लेखक की चित्त-भूमि पर बँधे हुए सैकड़ों विचार बज उठते है।**" द्विवेदी जी के निवन्ध अनेक विद्याओ के ज्ञान-भण्डार है। उनमे इतिहास, पुरातत्व, ज्योतिष, दर्शन और शास्त्रों का सुगम सार-सग्रह है। ज्ञान-गरिमा के साथ लालित्य का उन्होंने अद्‌भुत योग किया है।

कुटज हिमालय के ऊँचे शृगो पर सूखी शिलाओ के बीच उगने वाला एक जंगली वृक्ष है। कालिदास ने अपने प्रसिद्ध काव्य मेघदूत मे इसी के फूलो से मेघ की पूजा कराकर इसे अमर बना दिया है। यद्यपि इसमे न कोई विशेष शोभा होती है और न ही विशेष फल-फूल, फिर भी लेखक ने उसमे मानव-जीवन के लिए महान् सन्देशों की झलक देखी है। इसमे से तीन प्रमुख सन्देश है—उसकी अपराजेय जीवन-शक्ति, केवल अपने लिए नही वरन् दूसरों के लिए भी जीना, और

सुख-दुःख से अतीत रह कर आत्म-विश्वासपूर्वक एवं निर्लिप्त रह कर शान के साथ जीना। वह आँधियों और लू के बीच पल कर अपनी वीरता का परिचय देता है। सूखी शिलाओं से भी रस प्राप्त करता है और छाया प्रदान करता है—यही उसकी लोक-सेवा है। सभी परिस्थितियो को समान भाव से स्वीकार करता है, यही उसका समत्व योग है।

वह वीर है, परोपकारी है, योगी है। इस प्रकार लेखक ने प्रकृति मे से जीवन का पाठ ग्रहण करने की दिशा दिखायी है।

कुटज

कहते हैं, पर्वत शोभा-निकेतन होते हैं। फिर हिमालय का तो कहना ही क्या! पूर्व और अपर समुद्र—महोदधि और रत्नाकर—दोनों को दोनों भुजाओं से थाहता हुआ हिमालय 'पृथ्वी का मानदंड' कहा जाय तो गलत क्या है? कालिदास ने ऐसा ही कहा था। इसी के पाद-देश में यह जो श्रृंखला दूर तक लोटी हुई है, लोग इसे 'शिवालिक' श्रृंखला कहते हैं। शिवालिक का क्या अर्थ है? 'शिवालक' या शिव के जटाजूट का निचला हिस्सा तो नहीं है? लगता तो ऐसा ही है। 'सपाद लक्ष' या सवा लाख की मालगुजारी वाला इलाका तो वह लगता नहीं। शिव की लटियाई जटा ही इतनी सूखी, नीरस और कठोर हो सकती है। वैसे, अलकनंदा का स्रोत यहाँ से काफी दूर पर है, लेकिन शिव का अलक तो दूर-दूर तक छितराया ही रहता होगा। सम्पूर्ण हिमालय को देखकर ही किसी के मन में समाधिस्थ महादेव की मूर्ति स्पष्ट हुई होगी। उसी समाधिस्थ महादेव के अलक-जाल के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व यह गिरि-श्रृखला कर रही होगी। कहीं-कहीं अज्ञात-नाम-गोत्र झाड़-झंखाड़ और बेहया-से पेड़ खड़े दिख अवश्य जाते हैं, पर और कोई हरियाली नहीं। दूब तक सूख गयी है। काली-काली चट्टानें और बीच-बीच में शुष्कता की अंतर्निरुद्ध सत्ता का इजहार करनेवाली रक्ताभ रेती। रस कहाँ है? ये जो ठिगने से लेकिन शानदार दरख्त गर्मी की भयंकर मार खा-खाकर और भूख-प्यास की निरंतर चोट सह-सहकर भी जी रहे हैं, इन्हें क्या कहूँ? सिर्फ़ जी ही नहीं रहे हैं, हँस भी रहे हैं। बेहया हैं क्या? या मस्तमौला है? कभी-कभी जो लोग

ऊपर से बेहया दिखते है, उनकी जड़ें काफी गहरे पैठी रहती हैं। ये भी पाषाण की छाती फाड़कर न जाने किस अतल गह्वर से अपना भोग्य खीच लाते है।

शिवालिक की सूखी नीरस पहाड़ियों पर मुस्कराते हुए ये वृक्ष द्वंद्वातीत है, अलमस्त हैं। मै किसी का नाम नहीं जानता, कुल नहीं जानता, शील नहीं जानता, पर लगता है, ये जैसे मुझे अनादि काल से जानते हैं। इन्ही में एक छोटा-सा बहुत ही ठिगना पेड़ है। पत्ते चौड़े भी है बड़े भी है। फूलों से तो ऐसा लदा है कि कुछ पूछिए नहीं। अजीब-सी अदा है, मुस्कुराता जान पड़ता है। लगता है, पूछ रहा है कि क्या तुम मुझे भी नही पहचानते ? पहचानता तो हूँ, अवश्य पहचानता हूँ। लगता है, बहुत बार देख चुका हूँ। पहचानता हूँ। उजाड़ के साथी, तुम्हें अच्छी तरह पहचानता हूँ। नाम भूल रहा हूँ। प्राय: भूल जाता हूँ। रूप देखकर प्राय: पहचान जाता हूँ। नाम नहीं याद आता। पर नाम ही ऐसा है कि जब तक रूप के पहले ही हाजिर न हो जाय, तब तक रूप की पहचान अधूरी रह जाती है। भारतीय पंडितों का सैकड़ों बार का कचारा-निचोड़ा प्रश्न सामने आ गया—रूप मुख्य है या नाम ? नाम बड़ा है या रूप ? पद पहले है या पदार्थ ? पदार्थ सामने है, पद नहीं सूझ रहा है। मन व्याकुल हो गया, स्मृतियों के पंख फैलाकर सुदूर अतीत के कोनों में झाँकता रहा। सोचता हूँ, इसमे व्याकुल होने की क्या बात है ? नाम में क्या रखा है। नाम की जरूरत ही हो तो सौ दिये जा सकते हैं। सुस्मिता, गिरिकांता, शुभ्रकिरीटिनी, मदोद्धता, विजितातपा, अलकावतंसा, बहुत से नाम है। या फिर पौरुष व्यंजक नाम भी दिये जा सकते हैं—अकुतोभय, गिरिगौरव, कूटोल्लास, अपराजित, धरतीधकेल, पहाड़फोड़, पातालभेद ! पर मन नहीं मानता। नाम इसलिए बड़ा नहीं है कि वह नाम है। वह इसलिए बड़ा होता है कि उसे सामाजिक स्वीकृति मिली होती है। रूप व्यक्ति-सत्य है, नाम समाज-सत्य। नाम उस पद को कहते हैं, जिस पर समाज की मुहर

लगी होती है, आधुनिक शिक्षित लोग जिसे "सोशल सेंक्शन" कहा करते हैं। मेरा मन नाम के लिए व्याकुल है, समाज द्वारा स्वीकृत, इतिहास द्वारा प्रमाणित, समष्टि-मानव की चित्त-गंगा मे स्नात !

इस गिरिकूट-विहारी का नाम क्या है ? मन दूर-दूर तक उड़ रहा है—देश में और काल में 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' अचानक याद आया—अरे, यह तो कुटज है। संस्कृत साहित्य का बहुत परिचित किन्तु कवियों द्वारा अवमानित यह छोटा-सा शानदार वृक्ष 'कुटज' है। 'कूटज' कहा गया होता तो कदाचित ज्यादा अच्छा होता। पर नाम इसका चाहे कुटज ही हो, विरुद तो निस्संदेह 'कूटज' होगा। गिरिकूट पर उत्पन्न होने वाले इस वृक्ष को कूटज कहने मे विशेष आनन्द मिलता है। बहरहाल, यह कुटज—कूटज है, मनोहर कुसुम-स्तवकों से झबराया, उल्लास-लोल चारुस्मित कुटज ! जी भर आया। कालिदास ने 'आषाढ़स्य प्रथम दिवसे' रामगिरि पर यक्ष को जब मेघ की अभ्यर्थना के लिए नियोजित किया तो कम्बख्त को ताजे कुटज पुष्पों की अंजलि देकर ही सन्तोष करना पड़ा—चंपक नही, बकुल नही, नीलोत्पल नही, मल्लिका नही, अरविन्द नही,—फ़कत कुटज के फूल ! यह और बात है कि आज आषाढ का नहीं, जुलाई का पहला दिन है। मगर फर्क भी कितना है। बार-बार मन विश्वास करने को उतारू हो जाता है कि यक्ष बहाना मात्र है, कालिदास ही कभी "शापेनास्तंगमित महिमा" (शाप से जिनकी महिमा अस्त हो गयी हो) होकर रामगिरि पहुँचे थे, अपने ही हाथों इस कुटज पुष्प का अर्घ्य देकर उन्होने मेघ की अभ्यर्थना की थी। शिवालिक की इस अनत्युच्च पर्वत-शृंखला की भाँति रामगिरि पर भी उस समय और कोई फूल नही मिला होगा। कुटज ने उनके संतृप्त चित्त को सहारा दिया था—बड़भागी फूल है यह। धन्य हो कुटज 'तुम गाढे के साथी हो'। उत्तर की ओर सिर उठाकर देखता हूँ, सुदूर तक ऊँची काली पर्वत-शृंखला छायी हुई है और एकाध सफेद बादल के बच्चे उससे लिपटे खेल रहे है। मैं भी इन पुष्पों

का अर्घ्य उन्हें चढ़ा दूँ ? पर काहे वास्ते ? लेकिन बुरा भी क्या है ?

कुटज के ये सुन्दर फूल बहुत वुरे तो नहीं हैं। जो कालिदास के काम आया हो, उसे ज्यादा इज़्ज़त मिलनी चाहिए। मिली कम है। पर इज़्ज़त तो नसीब की बात है। रहीम को मै बड़े आदर के साथ स्मरण करता हूँ। दरियादिल आदमी थे, पाया सो लुटाया। लेकिन दुनिया है कि मतलब से मतलव है, रस चूस लेती है, छिलका और गुठली फेंक देती है। सुना है, रस चूस लेने के वाद रहीम को भी फेंक दिया गया था। एक बादशाह ने आदर के साथ बुलाया, दूसरे ने फेंक दिया ! हुआ ही करता है। इससे रहीम का मोल घट नहीं जाता। उनकी फक्कड़ाना मस्ती कहीं गयी नहीं। अच्छे भले क़द्रदान थे। लेकिन बड़े लोगों पर भी कभी ऐसी वितृष्णा सवार होती है कि ग़लती कर बैठते हैं। मन खराब रहा होगा, लोगों की बेरुखी और बेक़द्रदानी से मुरझा गये होंगे—ऐसी ही मन:स्थिति मे उन्होंने बिचारे कुटज को भी एक चपत लगा दी। झुँझलाये थे, कह दिया—

वे रहीम अब बिरछ कहँ, जिनकर छाँह गँभीर।
बागन बिच-बिच देखियत, सेंहुड़, कुटज, करीर॥

गोया कुटज अदना-सा 'बिरछ' हो। छाँह ही क्या बड़ी बात है, फूल क्या कुछ भी नही ? छाया के लिए न सही, फूल के लिए तो कुछ सम्मान होना चाहिए। मगर कभी-कभी कवियों का भी 'मूड' खराब़ हो जाया करता है, वे भी ग़लतबयानी के शिकार हो जाया करते हैं। फिर बागों से गिरिकूट-विहारी कुटज का क्या तुक है।

कुटज अर्थात् जो कुट से पैदा हुआ हो। 'कुट' घड़े को भी कहते हैं, घर को भी कहते हैं। कुट अर्थात् घड़े से उत्पन्न होने के कारण प्रतापी अगस्त्य मुनि भी 'कुटज' कहे जाते हैं। घड़े से तो क्या उत्पन्न हुए होंगे। कोई और बात होगी। संस्कृत में 'कुटहारिका' और 'कुटकारिका' दासी को कहते हैं। क्यों कहते है? 'कुटिया' या 'कुटीर' शब्द भी कदाचित् इसी शब्द से सम्बद्ध है। क्या इस शब्द का अर्थ घर ही है ? घर में काम-

काज करने वाली दासी 'कुटकारिका' और 'कुटहारिका' कही ही जा सकती है। एक जरा ग़लत ढंग की दासी 'कुटनी' भी कही जाती है। संस्कृत में उसकी गलतियों को थोड़ा अधिक मुखर वनाने के लिए उसे 'कुट्टनी' कह दिया गया है। अगस्त्य मुनि भी नारद जी की तरह दासी के पुत्र थे क्या? घड़े में पैदा होने का तो कोई तुक नही है, न मुनि कुटज के सिलसिले में, न फूल कुटज के। फूल गमले में होते अवश्य है; पर कुटज तो जंगल का सैलानी है। उसे घड़े या गमले से क्या लेना-देना।

यह जो मेरे सामने कुटज का लहराता पौधा खड़ा है, वह नाम और रूप दोनों मे अपनी अपराजेय जीवनी-शक्ति की घोषणा कर रहा है। इसीलिए यह इतना आकर्षक है। नाम है कि हजारों वर्ष से जीता चला आ रहा है। कितने नाम आये और गये। दुनिया उनको भूल गयी, वे दुनिया को भूल गये। मगर कुटज है कि संस्कृत की निरंतर स्फीयमान शब्दराशि में जो जम के बैठा सो बैठा ही है। और रूप की तो बात ही क्या है? बलिहारी है, इस मादक शोभा की। चारों ओर कुपित यमराज के दारुण नि.श्वास के समान धधकती लू में यह हरा भी है और भरा भी है, दुर्जन के चित्त से भी अधिक कठोर पाषाण की कारा में रुद्ध अज्ञात जलस्रोत से बरबस रस खीच कर सरस बना हुआ है और मूर्ख के मस्तिष्क से भी अधिक सूने गिरि-कांतार में भी ऐसा मस्त बना है कि ईर्ष्या होती है, कितनी कठिन जीवनी-शक्ति है! प्राण ही प्राण को पुलकित करता है, जीवनी-शक्ति ही जीवनी-शक्ति को प्रेरणा देती है। दूर पर्वतराज हिमालय की हिमाच्छादित चोटियाँ है, वही कही भगवान महादेव समाधि लगाकर बैठे होंगे, नीचे सपाट पथरीली जमीन का मैदान है, कही-कहीं पर्वतनंदिनी सरिताएँ आगे बढ़ने का रास्ता खोज रही होंगी, बीच में यह चट्टानों की ऊबड़-खाबड़ जटाभूमि है--सूखी, नीरस, कठोर। यहीं आसन मार कर बैठे हैं मेरे चिरपरिचित दोस्त कुटज। एक बार अपने झबरीले मूर्धा को हिला कर समाधिनिष्ठ महादेव को पुष्पस्तवक का उपहार चढ़ा देते हैं और एक

वार नीचे की ओर अपनी पाताल-भेदी जड़ों को दबा कर गिरिनंदिनी सरिताओं को संकेत से बता देते है कि रस का स्रोत कहाँ है। जीना चाहते हो ? कठोर पाषाण को भेद कर, पाताल की छाती चीरकर अपना भोग्य संग्रह करो, वायु-मण्डल को चूसकर, झंझा-तूफान को रगड़ कर, अपना प्राप्य वसूल लो, आकाश को चूमकर, अवकाश की लहरी में झूमकर, उल्लास खींच लो। कुटज का यही उपदेश है—

> **भित्वा पाषाणपिठरं छित्त्वा प्राभञ्जनीं व्यथाम् ।**
> **पीत्वा पातालपानीयं कुटजश्चुम्बते नभः ॥**

दुरत जीवन-शक्ति है ! कठिन उपदेश है। जीना भी एक कला है। लेकिन कला ही नहीं ! तपस्या है। जियो तो प्राण ढाल दो जिन्दगी में, मन ढाल दो जीवन रस के उपकरणों मे, ठीक है। लेकिन क्यों ? क्या जीने के लिए जीना ही बड़ी बात है ? सारा संसार अपने मतलब के लिए ही तो जी रहा है। याज्ञवल्क्य बहुत बड़े ब्रह्मवादी ऋषि थे। उन्होंने अपनी पत्नी को विचित्र भाव से समझाने की कोशिश की कि सब कुछ स्वार्थ के लिए है। पुत्र के लिए पुत्र प्रिय नहीं होता। पत्नी के लिए पत्नी प्रिया नही होती—सब अपने मतलब के लिए प्रिय होते हैं—"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" विचित्र नहीं है यह तर्क ? संसार मे जहाँ कही प्रेम है सब मतलब के लिए। दुनिया में त्याग नहीं है, प्रेम नही है, परार्थ नही है, परमार्थ नहीं है—है केवल प्रचंड स्वार्थ। भीतर की जिजीविषा—जीते रहने की प्रचंड इच्छा ही अगर बड़ी बात हो तो फिर यह सारी बडी-बड़ी बोलियाँ, जिनके बल पर दल बनाये जाते हैं, शत्रुमर्दन का अभिनय किया जाता है, देशोद्धार का नारा लगाया जाता है, साहित्य और कला की महिमा गायी जाती है, झूठ हैं। इनके द्वारा कोई न कोई अपना बड़ा स्वार्थ सिद्ध करता है। लेकिन अंतरतर से कोई कह रहा है, ऐसा सोचना गलत ढंग से सोचना है। स्वार्थ से भी बड़ी कोई-न-कोई बात अवश्य है, जिजीविषा से भी प्रचंड कोई-कोई शक्ति अवश्य है। क्या है ?

याज्ञवल्क्य ने जो बात धक्कामार ढंग से कह दी थी वह अंतिम नहीं थी। वे "आत्मनः" का अर्थ कुछ और बड़ा करना चाहते थे। व्यक्ति की आत्मा केवल व्यक्ति तक सीमित नही है, वह व्यापक है। अपने मे सब और सब में आप—इस प्रकार की एक समष्टि-बुद्धि जब तक नही आती, तब तक पूर्ण सुख का आनन्द भी नही मिलता। अपने आपको दलित द्राक्षा की भाँति निचोड़कर जब तक 'सर्व' के लिए निछावर नही कर दिया जाता, तब तक 'स्वार्थ' खंड-सत्य है, वह मोह को बढ़ावा देता है, तृष्णा को उत्पन्न करता है और मनुष्य को दयनीय—कृपण—बना देता है। कार्पण्य दोष से जिसका स्वभाव उपहत हो गया है, उसकी दृष्टि म्लान हो जाती है, वह स्पष्ट नही देख पाता। वह स्वार्थ भी नही समझ पाता, परमार्थ तो दूर की बात है।

कुटज क्या केवल जी रहा है? वह दूसरे के द्वार पर भीख माँगने नही जाता, कोई निकट आ गया तो भय के मारे अधमरा नही हो जाता, नीति और धर्म का उपदेश नहीं देता फिरता, अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नही चाटता फिरता, दूसरों को अवमानित करने के लिए ग्रहों की खुशामद नही करता, आत्मोन्नति के हेतु नीलम नही धारण करता, अंगूठियों की लडी नही पहनता, दाँत नही निपोरता, बगले नही झाँकता। जीता है और शान से जीता है—काहे वास्ते, किस उद्देश्य से? कोई नहीं जानता। मगर कुछ बड़ी बात है। स्वार्थ के दायरे से बाहर की बात है। भीष्म पितामह की भाँति अवधूत की भाषा में कह रहा है—'चाहे सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जो मिल जाय उसे शान के साथ, हृदय से बिलकुल अपराजित होकर, सोल्लास ग्रहण करो। हार मत मानो।'

सुखं वा यदि वा दुखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः।

(शान्तिपर्व २५/२६)

हृदयेनापराजितः! कितना विशाल वह हृदय होगा, जो सुख से,

दुःख से, प्रिय से, अप्रिय से विचलित न होता होगा। कुटज को देखकर रोमांच हो आता है। कहाँ से मिली है यह अकुतोभया वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि !

जो समझता है कि वह दूसरों का उपकार कर रहा है, वह अबोध है, जो समझता है कि दूसरा उसका अपकार कर रहा है, वह भी बुद्धि-हीन है। मनुष्य जी रहा है, केवल जी रहा है, अपनी इच्छा से नहीं, इतिहास-विधाता की योजना के अनुसार। किसी को उससे सुख मिल जाय, बहुत अच्छी बात है, नहीं मिल सका, कोई बात नही, परन्तु उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। सुख पहुँचाने का अभिमान यदि ग़लत है, तो दुःख पहुँचाने का अभिमान तो नितरां ग़लत है।

दुख और सुख तो मन के विकल्प हैं। सुखी वह है जिसका मन वश में है। दुखी वह है जिसका मन परवश में है। परवश होने का अर्थ है खुशामद करना, दाँत निपोरना, चाटुकारिता, हाँ-हुजूरी। जिसका मन अपने वश में नहीं है, वही दूसरे के मन का छंदावर्तन करता है, अपने को छिपाने के लिए मिथ्या आडंबर रचता है, दूसरों को फँसाने के लिए जाल बिछाता है। कुटज इन सब मिथ्याचारों से मुक्त है। वह वशी है। वह वैरागी है। राजा जनक की तरह संसार में रह कर, सम्पूर्ण भोगों को भोगकर भी उनसे मुक्त है। जनक की ही भाँति वह घोषणा करता है--मैं स्वार्थ के लिए अपने मन को सदा दूसरे के मन में घुसाता नही फिरता, इसलिए मैं मन को जीत सका हूँ, उसे वश में कर सका हूँ--

कुटज अपने मन पर सवारी करता है, मन को अपने पर सवार नहीं होने देता, मनस्वी मित्र, तुम धन्य हो।

—डॉ० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. कुटज का परिचय निम्नलिखित विन्दुओं के आधार पर दीजिए :—
आकार, पत्ते और फूल।
२. किन कवियों ने कुटज की चर्चा की है और क्या कहा है ?
३. लेखक ने कुटज मे किन महान् मानवीय गुणों का आभास पाया है ?
४. 'कुटज' के क्या-क्या नाम सुझाये गये है ? वे कहाँ तक सार्थक है ?
५. इस लेख मे लेखक के व्यक्तित्व की झलक देने वाले स्थलो का सकेत कीजिए।
६. ललित निवन्ध के क्या गुण होते है ? इस निवन्ध से कुछ उदाहरण दीजिए।
७. कालिदास ने हिमालय को 'पृथ्वी का मानदण्ड' क्यो कहा है ?
८. शिवालिक किस स्थान का नाम है ? लेखक ने इसका क्या अर्थ समझाया है ? अन्य लोग इसका क्या अर्थ लगाते रहे है ?
९. कुटज को 'उजाड के साथी', 'गाढे के साथी' और 'मस्तमौला' कहने का क्या अभिप्राय है ?
१०. निम्नलिखित अवतरणो की सदर्भ सहित व्याख्या कीजिए :—
   (अ) 'पहचानता हूँ। उजाड़ के साथी,' · · 'अतीत के कोनो मे झाँकता रहा।'
   (आ) 'नाम इसलिए बड़ा नही है' · · 'चित्त-गंगा मे स्नात।'
   (इ) 'गोया कुटज अदना' · · क्या तुक है ?'
   (ई) 'यह जो मेरे सामने' · · जम के वैठा सो वैठा ही है।'
   (उ) 'दुरन्त जीवन-शक्ति है' · मतलव के लिए ही तो जी रहा है।'
   (ऊ) 'भीतर की जिजीविषा' · · 'कोई शक्ति अवश्य है।'
   (ए) 'कुटज क्या केवल जी रहा है' · · 'वगले नही झाँकता।'
   (ऐ) 'जो समझता है' · · 'नितरा गलत।'
११. प्रस्तुत निवध के आधार पर हजारी प्रसाद द्विवेदी की निवन्ध-शैली की विशेपताओ का उल्लेख कीजिए।

रघुवीर सिंह (सन् १६०८)

महाराजकुमार रघुवीर सिंह का जन्म मध्य प्रदेश मे सीतामऊ मे सन् १६०८ में हुआ था। इनके पिता मालवा की सीतामऊ रियासत के महाराजा थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर हुई और उच्च शिक्षा होलकर कालेज, इन्दौर मे हुई। इन्होने आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण की।

मालवा में युगान्तर नामक शोधग्रंथ पर इन्हे आगरा विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि प्रदान की। मध्ययुग के इतिहास से इन्हे विशेष प्रेम है। इनकी डी० लिट्० की उपाधि भी इतिहास विषय मे ही है। ये इतिहास के उच्चकोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ हिन्दी-गद्य के भी अच्छे लेखक है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित है :—

इतिहास विषयक कृतियाँ :—**१. पूर्व-मध्यकालीन भारत, २. मालवा में युगान्तर, ३. पूर्व आधुनिक राजस्थान।**

साहित्यिक कृतियाँ :—**४. शेष स्मृतियाँ, ५. सप्तदीप, ६. बिखरे फूल, ७. जीवन-कण।**

रघुवीर सिंह एक राजघराने के होते हुए भी साहित्य-सृजन के कण्टकाकीर्ण एव साधना तथा तपस्या के मार्ग पर बड़ी सफलता से आगे बढ़े। इनकी रचनाएँ काफी प्रसिद्धि पा चुकी है। भाषा मे खड़ीबोली का प्रांजल रूप विद्यमान है। शैली सजीव तथा ओजपूर्ण है। प्रवाहपूर्ण एवं मँजी हुई भाषा मे न तो संस्कृत शब्दो का आग्रह है और न उर्दू तथा बोलचाल के शब्दो से परहेज। स्थान-स्थान पर उर्दू शब्दो का प्रयोग हुआ है। मध्ययुग का वर्णन करते हुए मध्ययुगीन राजाओ, बादशाहो एव इमारतो की विशेषताओ को उजागर करते समय उर्दू शब्दो का आना स्वाभाविक ही था। फिर भी भाषा कही पर भी दुरूह एव बोझिल नही हो पायी है। बीच-बीच मे शब्दो की आलकारिक योजना से गद्य मे भी काव्य का आनन्द मिलता है। तत्सम शब्दो के प्रयोग में भी ये सिद्धहस्त है। इनकी भाषा तत्सम शब्द-प्रधान है।

रघुवीर सिंह के निवन्धों को भावात्मक शैली के निवन्धों की कोटि मे रखा जाता है। निवन्धों मे रोचकता, चित्रात्मकता, भावुकता तथा अलकार-योजना इनकी शैली की प्रमुख विशेपताएँ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दो मे उनके भावात्मक प्रवधो की शैली वहुत ही मार्मिक और अनूठी है।

शेप स्मृतियाँ रघुवीर सिंह की सर्वाधिक लोकप्रिय पुस्तक है। भाषा एव शैली की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमे ऐतिहासिक आधार पर लिखित भावात्मक निवन्धो का सग्रह है। 'ताज', 'फतेहपुर सीकरी' एवं अन्य इमारतो पर प्रवाहपूर्ण एव आलकारिक शैली में निवन्धो की रचना करके इन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की। 'अवशेप' निवन्ध उनकी इसी पुस्तक से लिया गया है।

प्रस्तुत निवन्ध मे लेखक ने आगरा के अवशेपो का भावपूर्ण शब्दो मे वर्णन किया है। आगरे की इमारते अपने शिल्प-सौन्दर्य के कारण विश्व भर मे विख्यात हैं और इनकी ओर यात्री वरवस आकृष्ट हो जाते है। इन इमारतो का भावनाओ से भी सम्वन्ध है। ताज प्रेम का स्मारक है तो फतेहपुर सीकरी अकवर के अनेक सपनों की साकार मूर्त्ति। इस निवन्ध का एक-एक वाक्य हृदय को स्पर्श करता चलता है। इसमे आगरे की सभी प्रसिद्ध इमारतो के विषय मे लेखक के उद्गार व्यक्त हुए हैं। ताज, सीकरी, किला, मोती मस्जिद, जहाँगीरी महल, शीश महल, एतमादुद्दौला, सिकन्दरा आदि का वर्णन करते समय महाराजकुमार की लेखनी मे वही मादकता, वही चचलता, वही स्फूर्ति है जो इनकी भावना मे उस समय रही होगी जव ये उन पुराने खँडहरो पर खड़े रहे होगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "ये हृदय के मर्मस्थल से निकले हैं और सहृदयों के शिरीप-कोमल अन्तस्तल में सीधे जाकर सुखपूर्वक आसन जमायेंगे।"

अवशेष

महान् मुग़ल सम्राट् अकबर का प्यारा नगर—आगरा—आज मृतप्राय-सा हो रहा है। उसके ऊबड़-खाबड़ धूल भरे रास्तों और उन तंग गलियों में यह स्पष्ट देख पड़ता ह कि किसी समय यह नगर भारत के उस विशाल समृद्धिपूर्ण साम्राज्य की राजधानी रहा था; किंतु ज्यों-ज्यों उसका तत्कालीन नाम "अकबराबाद" भूलता गया त्यों-त्यों उसकी वह समृद्धि भी विलीन होती गयी। इस नगरी के वृद्ध क्षीण हृदय जुमा मस्जिद मे अब भी जीवन के कुछ चिह्न देख पड़ते हैं, किंतु इसका बहुत कुछ श्रेय मुस्लिम काल की उन मृतात्माओं को है, अपने अंचल में समेट कर भी विकराल मृत्यु जिनको मानव समाज के स्मृति-संसार से सर्वदा के लिए निर्वासित नहीं कर सकी; काल के क्रूर हाथों उनका नश्वर शरीर नष्ट हो गया, सब कुछ लोप हो गया, किंतु स्मृतिलोक में आज भी उनका पूर्ण स्वरूप विद्यमान है।

मुग़ल साम्राज्य भंग हो गया किंतु फिर भी उन दिनों की स्मृतियाँ आगरा के वायुमंडल में रम रही है। ज़मीन से मीलों ऊँची हवा में आज भी ऐश्वर्य विलास की मादक सुगंध, भग्न-प्रेम या मृत आदर्शों पर वहाये गए आँसुओं की वाष्प, तथा उच्छ्वासों और उसासों से तप्त वायु फैला हुआ है। भग्न मानव-प्रेम की वह समाधि, मुग़ल साम्राज्य के आहत यौवन का वह स्मारक ताज, आज भी अपने आँसुओं तथा अपनी आहों से आगरा के वायुमंडल को वाष्पमय कर रहा है। आज भी उस चिरविरही प्रेमी के आँसुओं का सोता यमुना नदी में जाकर अदृश्य रूप से मिलता है। ताज में दफ़नाये गये मुग़ल सम्राट् के तड़पते

हुए युवा हृदय की धुकधुकाहट से यमुना के वक्ष-स्थल पर छोटी-छोटी तरगें उठती है, और दूर-दूर तक उसके निश्वासों की मरमर ध्वनि आज भी सुन पड़ती हैं। कठोर भाग्य के संमुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते बल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओं का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा बह निकलता है।

आगरे का वह उन्नत किला, अपने गत यौवन पर इतरा-इतराकर रह जाता है। प्रातःकाल बाल सूर्य की आशामयी किरणें जब उस रक्तवर्ण किले पर गिरती है, तब वह चौक उठता है। उस स्वर्ण प्रभात में वह भूल जाता है कि अब उसके उन गौरवपूर्ण दिनों का अंत हो गया है, और एक बार पुनः पूर्णतया कांतियुक्त हो जाता है। किंतु कुछ ही समय मे उसका सुख-स्वप्न भंग हो जाता है, उसकी वह ज्योति और उसका वह सुखमय उल्लास, उदासी तथा निराशापूर्ण सुनसान वातावरण में परिणत हो जाते हैं। आशापूर्ण हर्ष से दमकते हुए उस उज्ज्वल रक्तवर्ण मुख पर पतन की स्मृति-छाया फैलने लगती है। और दिवस भर के उत्थान के बाद संध्या समय अपने पतन पर क्षुब्ध मरीचिमाली जब प्रतीची के पादप पुंज में अपना मुख छिपाने को दौड़ पड़ते है और बिदा होने से पूर्व अश्रु-पूर्ण नेत्रों से जब वे उस अमर करुण कहानी की ओर एक निराशापूर्ण दृष्टि डालते है तब तो वह पुराना किला रो पड़ता है, और अपने लाल लाल मुख पर, जहाँ आज भी सौदर्यपूर्ण विगत यौवन की झलक देख पड़ती है अंधकार का काला घूँघट खींच लेता है।

वर्तमानकालीन दशा पर ज्यों ही आत्मविस्मृति का पट गिरता है, अंतःचक्षु खुल जाते है और पुनः पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती है, उस पुराने रंगमंच पर पुनः उस विगत जीवन का नाटक देख पड़ता है। सुन्दर सुम्मन बुर्ज को एक बार फिर उस दिन की याद आ जाती है, जब दुःख और करुणापूर्ण वातावरण में मृत्युशय्या पर पड़ा कैदी

शाहजहाँ ताज को देख देखकर उसासें भर रहा था, जहान-आरा अपने संमुख निराशापूर्ण निस्संग करुण जीवन के भीषण तम को आते देखकर रो रही थी, जब उनके एकमात्र साथी, श्वेत पत्थरों तक के पाषाण हृदय पिघल गये थे और जब वह रत्नखचित बुर्ज भी रोने लगा था, उसके आँसू ढुलक-ढुलककर ओस की बूँदों के रूप में इधर-उधर बिखर रहे थे।

और वह मोती मसजिद, लाल लाल क़िले का वह उज्ज्वल मोती ...आज वह भी खोखला हो गया। उसका ऊपरी आवरण, उसकी चमक-दमक वैसी ही है किंतु उसकी वह आभा अब लुप्त हो गयी। उसका वह रिक्त भीतरी भाग धूल-धूसरित हो रहा है, और आज एकाध व्यक्ति के अतिरिक्त उस मसजिद मे परमपिता का भी नामलेवा नहीं मिलता। प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम को चला जाता है, सारे दिन तपने के बाद संध्या हो जाती है, सिहर-सिहर कर वायु वहती है, किंतु ये शोयत प्रस्तर खंड सुनसान अकेले ही खड़े अपने दिन गिना करते हैं। उस निर्जन स्थान में एकाध व्यक्ति को देखकर ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों यहाँ आने वाले व्यक्तियों में से किसी की आत्मा अपनी पुरानी स्मृतियों के बंधन मे पड़कर खिची चली आयी हैं। प्रार्थना के समय "मुअज्जिन" की आवाज सुनकर यही प्रतीत होता है कि शताब्दियों पहिले गूँजने वाली हलचल, चहल-पहल तथा शोरगुल की प्रतिध्वनि आज भी उस सुन्दर परित्यक्त मसजिद में गूँज रही है।

उस लाल-लाल किले में मोती मसजिद, खास महल आदि श्वेत भव्य भवनों को देखकर यही प्रतीत होता है कि अपने प्रेमी की, अपने संरक्षक की मृत्यु से उदासीन होकर इस किले को वैराग्य हो गया, अपने अरुण शरीर पर शोयत भस्म रमा ली। उस महान् क़िले का यह वैराग्य, उस जीवनपूर्ण स्थान की यह निर्जनता ऐश्वर्य विलास से भरपूर सोते मे यह उदासी, और उन रंग-बिरंगे, चित्रित तथा सजे-सजाये महलों का यह नग्न स्वरूप,—साधारण दर्शकों तक के हृदयों को हिला देता है, तब क्यों न वह किला संन्यास ले ले! संन्यास, संन्यास

—तभी तो चिरसहचरी यमुना को भी इसने लात लगाकर दूर हटा दिया, ठुकराकर अपने से विलग किया, और अपने सारे बाह्य द्वार बंद कर लिये। अब तो इनी-गिनी बार ही उसके नेत्र-पटल खुलते हैं, संसार को दो नजर देखकर पुनः समाधिस्थ हो जाता है वह क़िला। उस दुःखी दिल को सताना, उस निर्जन स्थान को फिर मनुष्य की याद दिलाना··· भाई ! सम्हल कर जाना वहाँ; वहाँ के वे क्षुधित पाषाण, वह प्यासी भूमि·· न जाने कितनी आत्माओं को निगलकर, न जाने कितनों के यौवन को कुचल कर, एवं न जाने कितनों के दिलों को छिन्न-भिन्न करके उनके जीवन-रस को पीकर भी तृप्त नही हुई, आज भी वह आपके आँसुओं को पीने के लिए, कुछ क्षणों के लिए ही क्यों न हो आपकी सुखद घड़ियों को भी विनष्ट करने को उतारू है।

उस क़िले का वह लाल-लाल जहाँगीरी महल—सुरा, सुन्दरी और संगीत के उस अनन्य उपासक की वह विलास भूमि—आज भी वह यौवन की लाली से रँगा हुआ ह। प्रतिदिन अंधकारपूर्ण रात्रि मे जब भूतकाल की यवनिका उठ जाती है, तब पुनः उन दिनों का नाट्य होता देख पड़ता है जब अनेकों की वासनाएँ अतृप्त रह जाती थी, कइयों की जीवन घड़ियाँ निराशा के ही अन्धकारमय वातावरण मे बीत जाती थी, और जब प्रेम के उस बालुकामय शांति-जल-विहीन ऊसर मे पड़े-पड़े अनेकों उसकी गरमी के मारे तड़पते थे। उस सुनसान परित्यक्त महल मे रात्रि के समय सुन पड़ती है उल्लासपूर्ण हास्य तथा विषादमय करुण क्रंदन की प्रतिध्वनियाँ। वे अशांत आत्माएँ आज भी उन वैभवविहीन खंडहरों मे घूमती है और सारी रात रो-रो कर अपने अपार्थिव अश्रुओं से उन पत्थरों को लथपथ कर देती है। किंतु जब धीरे-धीरे पूर्व मे अरुण की लाली देख पड़ती है, आसमान पर स्वच्छ नीला-नीला परदा पड़ने लगता है, तब पुनः इन महलो मे वही सन्नाटा छा जाता है, और निस्तब्धता का एकछत्र साम्राज्य हो जाता है। उन मृतात्माओं की यदि कोई स्मृति शेष रह जाती है तो उनके वे बिखरे

हुए अश्रु-कण, किंतु क्रूर काल उन्हें भी सुखा देना चाहता है। यहाँ की शांति यदि कभी भग होती है तो केवल दर्शकों की पद-ध्वनि से तथा "गाइडों" की टूटी-फूटी अंग्रेजी शब्दावली द्वारा। रात और दिन मे कितना अंतर होता है! विस्मृति के पट के इधर और उधर···एक ही पट की दूरी, वास्तविकता और स्वप्न, भूत तथा वर्तमान···कुछ ही क्षणों की देरी और हजारों वर्षों का सा भेद···कुछ भी समझ नहीं पड़ता कि यह है क्या।

उस मृतप्राय क़िले के अब केवल कंकालावशेष रह गये हैं; उसका हृदय भी वाहर निकल पड़ा हो ऐसा प्रतीत होता है। नक्षत्र-खचित आकाश के चँदवे के नीचे पड़ा है वह काले पत्थर का टूटा हुआ सिहासन, जिस पर किसी समय गुदगुदे मखमल का आवरण छाया हुआ होगा; और जिस पत्थर तक को सुशोभित करने के लिए, जिसे सुसज्जित बनाने के वास्ते अनेकानेक प्रयत्न किये जाते थे, आज उसी की यह दशा है। वह पत्थर है, कितु उसमें भी भावुकता थी; वह काला है कितु फिर भी उसमें प्रेम का शुद्ध स्वच्छ सोता बहता था। अपने निर्माता के वंशजों का पूर्ण पतन तथा उनके स्थान पर छोटे-छोटे नगण्य शासकों को सिर उठाते देखकर जव इस क़िले ने वैराग्य ले लिया, अपने यौवन-पूर्ण रक्तमय गात्रों पर भगवाँ डाल लिया, शोयत भस्म रमा ली, तो उसका वह छोटा हृदय भी क्षुब्ध होकर तडप उठा, अपने आवरणों में से वाहर निकल पड़ा, वह बेचारा भी रो दिया। वह पत्थर हृदय भी अंत मे विदीर्ण हो गया और उसमे से भी रक्त की दो बूंदे टपक पड़ीं। मुगलो के पतन को देखकर पत्थरों तक का दिल टूट गया, उन्होंने भी रुधिर के आँसू बहाये···'परंतु वे मुगल, उन महान् सम्राटों के वे निकम्मे वंशज, ऐश्वर्य विलास मे पड़े सुख नींद सो रहे थे···उनकी वही नीद चिर निद्रा में परिणत हो गयी।'

और वह शीशमहल, मानव कांचन-हृदय के टुकड़ों से सुशोभित वह स्थान कितना सुन्दर, दीप्तिमान, भीषण तथा साथ ही कितना

रहस्यमय भी है ! यौवन, ऐश्वर्य तथा राजमद से उन्मत्त सम्राटों को अपने खेल के लिए मानव हृदय से अधिक आकर्षक वस्तु न मिली। अपने विनोद के लिए, अपना दिल वहलाने के हेतु उन्होंने अनेकों के हृदय चकनाचूर कर डाले। भोले-भाले हृदयों के उन स्फटिक टुकडों से उन्होंने अपने विलास भवन को सजाया। एक वार तो वह जगमगा उठा। टूटकर भी हृदय अपनी सुन्दरता नहीं खोते, उसके विपरीत रक्त से सने हुए वे टुकड़े अधिकाधिक आभापूर्ण देख पड़ते हैं। परतु जव साम्राज्य के यौवन की रक्तिम ज्योति विलीन हो गयी, जव उस चमकते हुए रक्त की लाली भी कालिमा मे परिणत होने लगी, तव तो मानव जीवन पर कालिमामयी यवनिका डालनेवाली उस कराल मृत्यु का भयंकर तमसावृत्त पटल उस स्थान पर गिर पड़ा; उस शीशमहल म अंधकार ही अंधकार छा गया।

मानव हृदय एक भयंकर पहेली है। दूसरों के लिए एक बंद पुर्जा; उसके भेद, उसके भावों को जानना एक असंभव वात है। और उन हृदयों की उन गुप्त गहरी दरारों का अंधकार··· एक हृदय के अंधकार को भी दूर करना कितना कठिन हो जाता है, और विशेषतया उन दरारों को प्रकाशपूर्ण वनाना·· और यहाँ तो अनेकों मानव हृदय थे, सैकडों हजारों—और उन हृदयों के टुकडे, वे सिकुड़े हुए रक्त से सने खंड···उन्होंने अपनी दरारों मे संचित अधकार को उस शीशमहल मे उँडेल दिया। मुगलो ने शीशमहल की सृष्टि की, और सोचा कि प्रत्येक मानव हृदय में उन्ही का प्रतिबिम्ब दिखायी देगा···परंतु यह कालिमा और मानव हृदय की वे अनबूझ पहेलियाँ···। मुगलों ने उमड़ते हुए यौवन मे, प्रेम के प्रवाह मे एक चमक देखी और उसी से संतुष्ट हो गये। दर्शकों को भी सम्यक् प्रकारेण बताने के लिए तथा उस अंधकार को क्षण भर के लिए मिटाने के हेतु गंधक जलाकर आज भी ज्योति की जाती है। मुगलों के समान दर्शक भी उन कॉच के टुकड़ों में एक वार अपना प्रतिविम्व देखकर समझते है कि उन्होंने संपूर्ण दृश्य देख लिया।

परंतु उस अंधकार को कौन मिटा सकता है? कौन मानव हृदय के तल को पहुँच पाया है? किसे उन छोटे-छोटे दिलों का रहस्य जान पड़ा है? कौन उन टूटे हुए हृदयों की संपूर्ण व्यथा को उनकी कसक को समझ सका है?.... यह अंधकार तो निरंतर बढ़ता ही जाता है।

सुन्दरता में ताज का प्रतियोगी, ऐतमादुद्दौला का मकबरा, भाग्य की चंचलता का मूर्तिमान स्वरूप है। राह-राह भटकने वाले भिखारी का मक़बरा, भूखों मरते तथा भाग्य की मार से पीड़ित रंक की कब्र ऐसी होगी, यह कौन जानता था? यह श्वेत समाधि भाग्य के कठोर थपेड़े खाये हुए व्यक्ति के सुखात जीवन की कहानी है। श्वेत पत्थर के इस मक़बरे के स्वरूप में सौभाग्य घनीभूत हो गया है। यौवन-मद से उन्मत्त साम्राज्य में नूरजहाँ के उत्थान के साथ ही वासनाओं के भावी अंधड़ के आगम की सूचना देने वाली तथा उस अंधड़ में भी साम्राज्य के पथ को प्रदीप्त करने वाली यह ज्योति मुग़ल स्थापत्य कला की एक अद्भुत वस्तु है।

और उस मृतप्राय नगरी से कोई पाँच मील दूर स्थित है वह अस्थि-विहीन पंजर। अपनी प्रियतमा नगरी की भविष्य मे होनेवाली दुर्दशा की आशंका तक से अभिभूत होकर ही अकबर ने अपना अंतिम निवासस्थान उस नगरी से कोसों दूर बनाने का आयोजन किया था। अकबर का सुकोमल हृदय मिट्टी मे मिलकर भी अपनी कृतियों की दुर्दशा नही देख सकता था, और न देखना ही चाहता था। उस शात वातावरणपूर्ण सुरम्य उद्यान मे स्थित यह सुन्दर समाधि अपने ढंग की एक ही है। अकबर के व्यक्तित्व के समान ही समाधि दूर से एक साधारण सी वस्तु जान पड़ती है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसके पास जाते है, उस समाधि भवन मे पदार्पण करते है, त्यों-त्यों उसकी महत्ता, विशालता एव विशेषताएँ अधिकाधिक दिखायी पड़ती हैं। उस महान् अव्यावहारिक धर्म 'दीन-ए-इलाही' के इस एकमात्र स्मारक को निर्माण करने मे अकबर ने अनेकानेक वास्तुकलाओं के आदर्शों का अनोखा संमिश्रण किया था।

ध्रुव की ओर सिर किये अकबर अपनी कब्र मे लेटा था। एक ध्रुव को लेकर ही उसने अपने समस्त जीवन तथा सारी नीति की स्थापना की थी, और उसके उस महान् आदर्श ने, विश्व-बंधुत्व के उस टिमटिमाते हुए ध्रुव ने मृत अकबर को भी अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अकबर का वह छोटा-सा शव उस विशाल समाधि मे भी नही समा सका, वह वहाँ शाति से नही रह सका। विश्व-प्रेम तथा मानव-भ्रातृत्व के प्रचारक के अंतिम अवशेष, वे मुट्ठी भर हड्डियाँ भी विश्व में मिल जाना चाहती थी। विशाल हृदय अकवर मर कर भी कठोर पत्थरों की उस विशाल, किंतु आत्मा की दृष्टि से बहुत ही सकुचित, परिधि मे नही समा सका। अपने अप्राप्त आदर्शो की ही अग्नि मे जलकर उसकी अस्थियाँ भी भस्मसात् हो गयीं, और वह भस्म वायुमंडल मे व्याप्त होकर विश्व के कोने-कोने में समा गयी। अकवर की हड्डियाँ भस्मीभूत हो गयी, परंतु अपने आदर्शो को न प्राप्त कर सकने के कारण उस महान् सम्राट् की वह प्रदीप्त हृदय ज्वाला आज भी बुझी नही है; उस मिट्टी के दीपक-रूपी हृदय मे अगाध मानव स्नेह भरा है, उसमे सदिच्छाओं तथा शुभ भावनाओं की शुद्ध श्वेत बत्ती पडी है, और वह दिया तिल तिल कर जलता है। वह टिमटिमाती हुई लौ आज भी अकबर की समाधि पर जल रही है, और धार्मिक सकीर्णता के अधकार से पूर्ण, विश्व के सदृश्य गोल तथा विशाल गुम्बज में वह उस महान् आदर्श की ओर इंगित करती है, जिसको प्राप्त करने के लिए शताब्दियों पहिले अकबर ने प्रयत्न किया था, और जिसे आज भी भारतीय राष्ट्र नही प्राप्त कर सका है।

मानव जीवन एक पहेली है, और उससे भी अधिक अनबूझ वस्तु है विधि का विधान। मनुष्य जीवन के साथ खेलता है, जीवन ही उसके लिए मनोरजन की एकमात्र वस्तु है, और वही जीवन इस लोक मे फैलकर ससारव्यापी हो जाता है। ससार उस बिखरे हुए जीवन को देखकर हँस देता है या ठुकरा देता है। परन्तु जीवन बीत चुकने पर जब

मनुष्य उसे समेटकर इस लोक से विदा लेता है तब संसार उस विगत आत्मा के संसर्ग में आयी हुई वस्तुओं पर प्रहार कर या उन्हें चूमकर समझ लेता है कि वह उस अन्तर्हित आत्मा के प्रति अपने भाव प्रकट कर रहा है। उस मृत व्यक्ति के पाप या पुण्य का भार उठाते हैं उसके जीवन से संबद्ध ईंट और पत्थर, उसकी स्मृतियों के अवशेष। किसका कृत्य और किसे यह दंड···परंतु यही संसार का नियम है, विधि का ऐसा ही विधान है।

बिखरे पड़े हैं मुग़ल सम्राटों के जीवन के भग्नावशेष, उस मृत-प्राय नगरी में। जिन्होंने उस नगरी का निर्माण किया था उनका अन्त हो गया, उनका नामलेवा भी न रहा। सब कुछ विनष्ट हो गया; वह गौरव, वह ऐश्वर्य, वह समृद्धि, वह सत्ता—सब विलीन हो गये। मुगल साम्राज्य के उन महान् मुग़ल सम्राटों की स्मृतियाँ, उन स्मृतियों के वे रहे-सहे अवशेष, यत्र-तत्र बिखरे हुए वैभवविहीन वे खँडहर, उन सम्राटों के विलास स्थान, ऐश्वर्य के वे आगार, उनके मनोभावों के वे स्मारक···सब शताब्दियों से धूल-धूसरित हो रहे हैं, पानी-पत्थर, सरदी-गरमी की मार सह रहे हैं। उन्हें निर्माण करने में, उनके निर्माताओं के लिए विलास और सुख की सामग्री एकत्र करने में जो पाप तथा सहस्रों दरिद्रियों एवं पीड़ितों के हृदयों को कुचलकर जो-जो अत्याचार किये थे, उन्हीं सबका प्रायश्चित आगरे के ये भग्नावशेष कर रहे हैं। कब जाकर यह प्रायश्चित सम्पूर्ण होगा, यह कौन जानता है कि कुछ बता सके।

—रघुवीर सिंह

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने आगरा को मृतप्राय-सा क्यों कहा है ?

२ लेखक ने भग्न मानव-प्रेम की समाधि किसे कहा है ? इसे मुगल साम्राज्य के आहत यौवन का स्मारक कैसे कहा जा सकता है ?

३ अपने गत यौवन पर कौन इतरा रहा है ? किला रो क्यों पड़ता है ?

४. शाहजहाँ कहाँ कैद था ? वह ताज को देख-देख कर उसासे क्यो भर रहा था ?
५. मोती मसजिद की ऊपरी चमक-दमक वैसी ही रहती हुए भी आभाविहीन क्यो हो गयी ?
६. जहाँगीरी महल को देखकर लेखक के मन मे किस प्रकार के भाव उमड पड़े ?
७. शीश महल का वर्णन लेखक ने किस प्रकार किया है ?
८. मानव हृदय को पहेली क्यों कहा गया है ?
९. सुन्दरता मे ताज की प्रतिद्वन्द्वी इमारत कौन-सी है ?
१०. अकवर ने अपना अन्तिम निवास-स्थान कहाँ वनवाया था ? इसका वर्णन लेखक ने किस प्रकार किया है ?
११. अधोलिखित वाक्य का आशय व्यक्त कीजिए :—
"कठोर भाग्य के सम्मुख सुकोमल मानव हृदय की विवशता को देखकर यमुना भी हताश हो जाती है, ताज के पास पहुँचते-पहुँचते वल खा जाती है, उस समाधि को छूकर तो उसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है, आँसुओ का प्रवाह उमड़ पड़ता है, वह सीधा वह निकलता है।"
१२. निम्नलिखित वाक्यो अथवा वाक्याशों मे निहित सौन्दर्य को स्पष्ट कीजिए :
(क) 'टूटकर भी हृदय अपनी सुन्दरता नही खोते।'
(ख) 'श्वेत पत्थर के इस मकवरे के स्वरूप मे सौभाग्य घनीभूत हो गया है।'
(ग) 'विखरे पड़े है मुगल-सम्राटो के जीवन के भग्नावशेष, उस मृतप्राय नगरी मे।'
१३. इस पाठ मे प्रयुक्त रूपकों के दो उदाहरण दीजिए।

'अज्ञेय' (सन् १९११)

आधुनिक हिन्दी-साहित्य मे 'अज्ञेय' का व्यक्तित्व सबसे अधिक चर्चा का विषय रहा है। जिस प्रकार उनकी प्रतिभा बहुमुखी रही, उसी प्रकार उनका जीवन और व्यक्तित्व भी अनेकमुखी रहा। उनका उपनाम 'अज्ञेय' उचित ही है।

'अज्ञेय' का वास्तविक नाम सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन है। इनके पिता प० हीरानन्द शास्त्री भारत के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता थे। ये लोग पजाब प्रान्त के कर्त्तारपुर (जालन्धर) नगर के निवासी थे और मूलत: भणोत सारस्वत ब्राह्मण कुल के थे। पिता ने संकीर्ण जातिवाद से ऊपर उठकर गोत्र के नाम का प्रचलन कराया और ये भणोत से वात्स्यायन बने। 'अज्ञेय' का बचपन पिता के साथ वनो और पर्वतो मे बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के बीच बीता तथा परिवार के अन्य सदस्यो—माता एवं भाइयों से प्राय: अलग-अलग रहना पड़ा। यही कारण रहा कि 'अज्ञेय' एकान्त के सहज अभ्यासी हो गये, जिसका प्रभाव उनके व्यक्तित्व पर आज भी देखा जा सकता है। स्वयं उन्ही के शब्दों मे—**अकेले रहने का आरम्भ से ही कुछ अधिक अभ्यास है। फलतः प्रायः लोगों के बीच में भी अकेला रह जाता हूँ, जिससे सब नाराज हैं और घनिष्ठ मित्र कोई अपने को नहीं समझता। सभा-समाजो में सिट्टी भूल जाता हूँ, जिसे कृपालु लोग गम्भीरता समझते हैं और शेष लोग अहंकार।** ('तार सप्तक' पृष्ठ २६८)।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर ही सस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से संस्कृत से प्रारम्भ हुई—"वह भी पुराने ढग से यानी अष्टाध्यायी रटकर।" तदुपरान्त फारसी सीखी एव उसके पश्चात् अंग्रेजी। आगे की शिक्षा मद्रास और लाहौर मे पायी। विज्ञान स्नातक (सन् १९२९) होने के बाद अग्रेजी साहित्य से एम० ए० कर ही रहे थे कि उसके अन्तिम वर्ष मे क्रान्तिकारी षडयन्त्रो मे भाग लेने के कारण गिरफ्तार कर लिये गये और सन् १९३०-३४ तक जेल मे रहकर बाद मे एक वर्ष घर पर नजरबन्दी मे बिताना पडा। मेरठ 'किसान आन्दोलन' मे भी इन्होंने भाग लिया। सन् १९४३-४६ मे सेना मे भरती होकर असम-वर्मा सीमान्त पर और युद्ध समाप्त हो जाने पर

पजाव-पश्चिमोत्तर सीमान्त पर सैनिक के रूप मे सेवा की। सन् १६५५ मे ये यूनेस्को की वृत्ति पर योरप गये। सन् १६५७ में जापान और पूर्वेशिया का भ्रमण किया। ये भारतीय साहित्य और संस्कृति के प्राध्यापक नियुक्त होकर कुछ समय तक अमेरिका में भी रहे। कुछ दिनों तक इन्होंने जोधपुर विश्वविद्यालय मे तुलनात्मक साहित्य तथा भाषा अनुशीलन विभाग के निदेशक पद पर भी कार्य किया। आजकल दिल्ली से **नया प्रतीक** निकाल रहे हैं।

साहित्य के अतिरिक्त 'अज्ञेय' चित्र-कला, मृत्तिका-शिल्प, चर्म-शिल्प, बढ़ईगीरी, फोटोग्राफी, बागवानी एवं पर्वतारोहण आदि में भी सक्रिय रुचि लेते रहे हैं। "पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेंदुएँ के बच्चे तक पाले हैं। पक्षी बुलबुल से मोर चकोर तक"। वन-पर्वत, सागर-तट, बीहड प्रदेश, ग्राम-नगर एव देश-विदेश मे घूमने एव भटकने का इन्हे शौक रहा है। "सागर मे वह दो बार डूब चुका है, चट्टानो की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ मे वह कई बार फिसल कर गिरा हैं और दैवात् ही बच गया है। हिमालय के उत्तुग शिखरों को वह जिस ललचाई दृष्टि से देखता है, गहन सागर के गर्जन-तर्जन में भी उसे वही आनंद मिलता है।" 'अज्ञेय' का स्वभाव है, व्यवस्था-प्रियता। बचपन से ही यह व्यवस्था-प्रेमी रहे हैं। पैकिंग से लेकर कमरे की सजावट तक और कलम-नवीसी से लेकर शिकार तक इनके हाथ ऐसे मँजे हैं कि जरा भी अव्यवस्था इन्हे सहन नही हैं और कभी-कभी अत्यन्त निकट के लोगों के लिए भी इस व्यवस्था का उद्रेक झुंझलाहट की सामग्री बन जाता है।

'अज्ञेय' का रचना-क्षेत्र विस्तृत और विविध है। उन्होने कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना और काव्य के अतिरिक्त एक नाटक भी लिखा है—**उत्तर प्रियदर्शी**। इनके निबन्ध सग्रह हैं—**१. त्रिशंकु, २. आत्मनेपद, ३. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, ४. सब रंग और कुछ राग** एवं **५. लिखि कागद कोरे**। उनके यात्रा-विषयक निबन्ध हैं—**६. अरे यायावर रहेगा याद** तथा **७ एक बूंद सहसा उछली**।

विषय की दृष्टि से 'अज्ञेय' के निबन्धो को मोटे तौर पर तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है :—

१. आत्मपरक अथवा वैयक्तिक निबन्ध 'आत्मनेपद' तथा 'लिखि कागद कोरे'।
२. शास्त्रीय अथवा समीक्षात्मक निबन्ध 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य', 'त्रिशंकु' तथा तीनों सप्तको की भूमिकाएँ।

३. भ्रमण वृत्तान्त तथा अन्य निबन्ध—'अरे यायावर रहेगा याद' तथा 'एक बूँद सहसा उछली'।

भापा-शिल्प की दृष्टि से 'अज्ञेय' सदैव जीवन्त एवं सस्कारी भाषा के प्रयोग के हामी रहे है। उनका प्रयत्न सदैव शब्द को नयी अर्थवत्ता से भर देने का रहता है। शब्द प्रयोग मे वे मितव्ययिता को वहुत महत्त्व देते है। उन्होंने भाषा-सम्बन्धी विविध प्रयोग किये है—संस्कृत-निष्ठ भाषा से लेकर आम बोलचाल की भाषा तक। उनकी तर्क-पद्धति सुव्यवस्थित, सुचिंतित एवं क्रम-संगत होती है। शैली के भी नये मान 'अज्ञेय' ने स्थापित किये है। संवाद—'केशव की कविताई', 'प्रश्नोत्तर', 'हिन्दाग्लीयम्', 'लेखक के चारों ओर', टिप्पणी—'परम्परा, प्रभाव, प्रक्रिया' एवं इण्टरव्यू-'कुट्टिजातविनोदेन' (१-२) आदि अनेक शैलियो का उन्होंने कलात्मक प्रयोग किया।

प्रस्तुत लेख लेखक के **सब रंग और कुछ राग** निवन्ध सकलन से लिया गया है। लेखक के अनुसार 'सन्नाटा' शब्द का ही एक गुण है। उसमे भी एक स्वर होता है, भले ही वह स्वर कितना ही सूक्ष्म क्यों न हो। वह नकार अथवा अनस्तित्व का विराट् रूप है किन्तु शून्य नही है। सूक्ष्म लक्षणों के द्वारा हम केवल उसका भावन (अनुभूति) करते है। उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नही कर सकते। यह भावन भी स्थिति की विशेषता एवं व्यक्ति की विशेषता से प्रभावित होता है। इसी कारण ध्वन्यनुसारी शब्द होते हुए भी सन्नाटा स्थिति और व्यक्ति के अन्तर से सूँ-सूँ, साँय-साँय तथा भाँय-भाँय आदि अनेक स्वरों में सुनायी पड़ता है।

सन्नाटा

'कैसा सन्नाटा छाया है!' हम कहते हैं, और फिर अनायास ही कान लगाकर उसकी आवाज सुनने लगते हैं। 'वहाँ सन्नाटा साँय-साँय करता है—वह बड़ा डरावना मालूम होता है',—यह भी प्रायः सुनने मे आता है।

असल में सन्नाटा आत्यन्तिक रवहीनता नही है। वह शब्द का ही एक गुण है। कह लीजिए कि वह मौन का स्वर है, निस्तब्धता की गति है।

इसमे कोई मौलिक विरोध नही है, क्योकि स्वर के क्षेत्र मे जैसे सन्नाटा है, वैसे ही और इन्द्रियगोचर क्षेत्रों मे भी लक्ष्य होता है। स्वाद ले लीजिए—हम कहते है फीका—उस चीज के लिए जिसमें कोई स्वाद नहीं होता। लेकिन क्या फीका वास्तव मे स्वादहीन है? अच्छा स्वच्छ पानी स्वादविहीन होता है—पर उसे हम कभी फीका नही कहते। पानी को अगर कभी फीका कहते है तो तभी जब उसमें एक विशेप प्रकार का स्वाद होता है—और वह फीकेपन का स्वाद है, ठीक उसी तरह जिस तरह सन्नाटे की आवाज होती है!

हम कहते है अँधेरा। अँधेरा प्रकाश की एकान्त अनुपस्थिति है, और रग क्योंकि प्रकाश का गुण है, इसलिए अँधेरे का कोई भी रंग नही हो सकता। लेकिन हम कहते है काला अँधेरा—खैर, मान ले कि काला भी रंग नहीं है, रंग की अनुपस्थिति है, तो हम जानते है कि अँधेरा नीला भी होता है, और भूरा भी होता है, और एक अवर्णनीय रंग का धुँधला अँधेरा भी होता है। 'आँखों के आगे अँधेरा छा जाता

है'—पर उस समय हमें तारे दीखते हैं, या लाल-पीला या हरा रंग दीखता है, यह मै निजी अनुभव से कहता हूँ। (अनुभव आपका भी होगा अगर आपकी आँखों के सामने कभी अँधेरा छाया हो ; पर आपने शायद लक्ष्य न भी किया हो, मुझ निठल्ले को तो ऐसी खुराफात सूझती रहती है !)

भाषा वुद्धि का एक उपकरण है। सम्यक् निरूपण या वर्णन का वह माध्यम है। तब क्यों ऐसा प्रमाद ? लेकिन वास्तव में यह भाषा का दुरुपयोग नहीं है। असल में मानव बुद्धिजीवी या तर्कजीवी होकर भी—या होने के कारण ही !—सम्पूर्ण नकार से डरता है। किसी एकान्त, आत्यन्तिक नकार का न कभी वह दावा करता है, न उसे पाना चाहता है, बल्कि कहना चाहिए उससे कन्नी काटता है। सम्पूर्ण नकार कुछ है तो कुछ बहुत बड़ा है, कुछ विराट् है। नकार का अपना एक ऐश्वर्य है, जिसे मानव की कल्पना समा नही सकती। क्या इसीलिए नहीं कि ईश्वर के सब विशेषण नकारात्मक हैं अनादि, अनन्त, अगम, अगाध, अरूप, असीम, अप्रमेय। धर्मात्मा लोग समझाने लगते है तो कहते है कि जव ऋषि लोग परमात्मा का बखान करते-करते हार गये तब लाचार उन्होंने कहा, 'नेति-नेति ! '—यह नही, यह नही। पर वास्तव मे यह परिभाषा की पराजय नही है, यह तो स्वयं संपूर्ण परिभाषा है ; जो कुछ है, वह है इसीलिए स्वीकारमूलक है, एक सम्पूर्ण नकार ही हमारी कल्पना से परे है, अनिर्वचनीय और अकल्पनीय है, और वही तो परमात्मा है !

सन्नाटा ! यह नाम ही उस 'सन्-सन्' ध्वनि से बना है जो हम सन्नाटे में सुनते हैं। यह वैचित्र्य है कि कहीं उसे 'सूँ-सूँ' सुनते हैं, जैसे पंजाब मे, कहीं 'साँय-साँय', जैसे अधिकांश भारत में, कही, 'हाउँ-हाऊँ', जैसे शायद बंगाल मे। यों उत्तर प्रदेश में ऐसे भी है जो इसे 'भाँय-भाँय' सुनते हैं; लेखक लोग भी। सन्नाटे के स्वर को कोई 'भाँय-भाँय' कैसे सुन सकता है, मेरी समझ में नहीं आता, खासकर साहित्य-

स्रष्टा, पर हिन्दी के लेखक सुनते हैं, और हिन्दी राष्ट्रभाषा है तो उसके लेखकों के बारे में गुस्ताखी की वात कैसे कही जाय ! इसलिए मैं सोचता हूँ कि 'भॉय-भॉय' असल मे 'भय' और 'सॉय-सॉय' की सन्धि से वनाया गया होगा—भयावने सन्नाटे के लिए। किसी भावना को दो शव्दों से खीचकर एक ही शब्द में घनीभूत सार रूप से संचित करने का यह टेकनिक यूरोपीय लेखकों ने भी अपनाया है, यथा जेम्स जॉएस ने; और यह कैसे हो सकता है कि यूरोपीय साहित्य मे कोई प्रयोग हो और हिन्दी मे न हो वल्कि उससे पहले !

यो यह हो सकता है कि अलग-अलग प्रदेश के सन्नाटे मे भी थोड़ा अन्तर हो। पर असल मे उसका शव्द सुनने में शायद हमारे कानों का अन्तर ही प्रधान होता है। शव्द-निर्माण में ध्वनि का अनुसरण एक मुख्य स्थान रखता है। ध्वन्यनुसारी शव्द प्रत्येक भाषा मे भरे पड़े है—ठॉय, धड़ाम, छलछलाना, रुनझुनाना, चिचियाना, चहकना, सनसनाहट, गड़गड़ाहट। लेकिन कौतुक यह है कि एक ही ध्वनि को विभिन्न देशों मे कितने प्रकार से सुना जाता है। गोली की आवाज लीजिए: हम सुनते है 'ठॉय', लेकिन अंग्रेजी मे वह हो जाता है 'वैंग' या 'क्रैक'। तोप हमारे यहाँ कहती 'धॉय'। पर जव अंग्रेजी वोलती है तो कहती है 'बूम'। इसी प्रकार 'रुनझुन' के लिए 'टिंकल', 'गड़गड़ाहट' के लिए 'रम्वल', पानी की कल-कल ध्वनि के लिए 'रसल'—और भी वहुत से गिना दिये जा सकते है। कभी-कभी तो इन भेदों को देखकर एक पुराना पंजाबी जन-गीत याद आ जाता है—'राजा पटियाले वाला बोली होर बोलदा'—पटियाले वाला राजा और ही बोली बोलता है, पानी को वाटर कहता है, बेटी को डाटर कहता है ···

लेकिन ध्वन्यनुसारी शव्दों मे केवल भेद ही हो, ऐसा नहीं है। कही आश्चर्य-जनक साम्य भी है। हमारे यहाँ मोटर घर्र-घर्र करती है, वहाँ उसके लिए 'हर्र' शब्द है; वहुत हल्का हो तो 'पर्र' कहते है—यही शब्द विल्ली के गुरगुराने के लिए भी है। मोटर साइकिल 'फट-

'फटिया' है, इसका हमवजन नाम तो अंग्रेजी में नही है, लेकिन इंजन का 'पटरिंग' वे भी सुनते है। और अग्रेजी के महाप्राण उच्चारण मे 'पटर' विस्फोटित होकर 'फटर' हो ही जाता है। कवि-प्रिय 'मर्मर' ध्वनि अंग्रेजी मे भी 'मर्मर' ही है।

ये साम्य और वैषम्य तुलनात्मक अध्ययन का बड़ा अच्छा विषय हो सकते हैं। यह भी पाया जा सकता है कि विशेष काल मे कोई विशेष ध्वन्यनुसारी चला हो, या उसका कारण बाह्य स्थिति की कोई विशेषता हो। जैसे गिरना ले लीजिए। हमारे यहाँ ही 'धम्म' या 'धड़ाम' से भी गिरते है, खट् से भी। अंग्रेजी में 'क्रश' करते हैं, या 'थड' होता है। हो सकता है कि कच्चे फ़र्श पर गिरने से एक चला हो, पक्के फ़र्श से या लकड़ी के फ़र्श से एक। अब जहाँ अधिकतर लकड़ी के फ़र्श होते है या थे---वहाँ गिरने का ध्वन्यनुसारी एक शब्द हो जायगा, जहाँ कच्चे फ़र्श होते हों वहाँ दूसरा। फिर जब शब्द रूढ़ हो जाते हैं तो उनकी ध्वन्यनुसारी व्युत्पत्ति लोग भूल जाते हैं; लकड़ी के फर्श जब नहीं रहेंगे तब भी उस पर गिरने के लिए जो शब्द रूढ़ हो गया है वह गिरने के लिए चलता ही रहेगा।

स्थिति-वैचित्र्य तो पूरे समाज को प्रभावित करता है। पर व्यक्ति-वैचित्र्य का भी असर हो सकता है। अब पानी की कल-कल ध्वनि वाल्मीकि से कालिदास और कालिदास से प्रगति-पूर्व तक के कवि सुनते आये---प्रगतिवादियों को वह न सुन पड़ी क्योंकि प्रकृति की आवाजें रूमानी आवाजे थी जिनके प्रति उन्होंने कान बन्द कर लिये, बन्द कारखाने को मानवी क्रियाओं का श्रेष्ठ प्रतीक मानकर उन्होंने अपने को किस आश्चर्यजनक रूप से इन्द्रिय-गोचर संवेदनाओं के प्रति बन्द कर लिया, यह सहसा विश्वास नही होता। जो इन्द्रिय-संवेदना के प्रति बन्द है उसकी मानसिक संवेदना भी अधिक नही टिक सकती, क्योंकि इन्द्रियाँ ही मन की ग्राहकता के उपकरण है; यह सीधी-सी बात वे भूल गये। लेकिन हम उनकी आलोचना करने नही बैठे, हम

कल-कल ध्वनि की वात कह रहे थे। सहसा छायावादी पन्त ने सुना, कलकल ही नहीं, 'कल्-कल् : टल्-मल-'। आज-कल ऋषि नहीं होते, अतः आर्ष प्रयोग की दुहाई तो नही दी जा सकती; पर कवि द्रष्टा है तो श्रोता भी है; महाकवि के अनुयायी होकर हम पानी के स्वर के लिए टलमलाना कहने लगें तो वह ध्वन्यनुसारी होगा या नही यद्यपि हमने वैसा नहीं सुना ?

लेकिन वास्तव मे हम सन्नाटे को जानते नही हैं। नही जानते, क्योंकि वास्तव मे वह है नकार ही, और नकार को हम तद्वत् ग्रहण नही कर सकते। केवल कुछ लक्षणों के सहारे उसका भावन कर सकते है। और कौतुक यही है कि ये लक्षण कोई नकारात्मक नहीं होते, केवल सूक्ष्म होते हैं। पहाड़ के आगे जैसे राई है, इसी अनुपात मे राई के आगे कुछ होगा, उस कुछ को हम कुछ नही कहते हैं, पर वास्तव मे वह कुछ नहीं तो नहीं है ? अस्तित्व के विराट् से अनस्तित्व के विराट् तक जाने के लिए सूक्ष्म अस्तित्व के ऐसे छोटे-छोटे सेतु हम बनाते है; पर जिस तरह एक विराट् अपर्याप्त लक्षणों के द्वारा ही भावित होता है, उसी प्रकार दूसरा विराट् भी। इसे चाहे मानव की लघुता मान लीजिए कि वह विराट् को मुट्ठी मे नही करता, केवल भावन करता है, चाहे उसकी महत्ता मान लीजिए कि वह लघु होते भी विराट् का भावन करता है, उसकी ओर उठता है, उसे पाना चाहता है।

तो सन्नाटे को हम अपने-आप में नही जानते। छोटे-छोटे स्वरों के सहारे ही जानते है। और स्वरों को सुनने मे भी बहुधा अपनी इच्छाओं का, विचारों का आरोप उन पर करते हैं। हम कहते है, 'प्रभात का सुहावना शान्त समय'—तो क्या अपनी शान्ति-लिप्सा दृश्य पर आरोपित नही कर रहे ! प्रभात मे इतने प्रकार के स्वर होते है कि सूची बनाने लगे तो चकित हो जायेगे। विशेषकर हमारे देश में, जितने प्रकार के पक्षी सबेरे बोलते हैं उनकी सूची ही यथेष्ट होती है। यहाँ सन्नाटे के आस-पास की कुछ शान्ति होती है तो ग्रीष्म की दोपहरी में

और उस वक्त हमारी इन्द्रियाँ भी इतनी शिथिल होती हैं कि कदाचित् सन्नाटे की साँय-साँय भी न सुने या सुनकर भी अनसुनी कर दें। पर फिर भी मै जब उस सन्नाटे की कल्पना करके थोड़ी देर के लिए अपने को उसे सौप देना चाहता हूँ, तब अनिवार्यतः पाता हूँ कि उसमे एक स्वर और है मक्खी की अलसायी-सी भिनभिनाहट या किवाड़ बन्द करके, खस की टट्टियाँ लगाकर इतना अँधेरा कर लूँ कि वह भी न रहे, तो उससे भी सूक्ष्म एक स्वर मच्छर की पिनपिनाहट सर्वथा स्वरमुक्त सन्नाटा कभी पाया हो, याद नहीं आता : हाँ, पानी के तले डुबकी लगाकर कभी उसके कुछ निकट पहुँचा हूँ, लेकिन वहाँ इतनी देर टिक नहीं सका कि ठीक पड़ताल कर सकूँ, और फिर साँस रोकने से कानों में अपने ही हृदय की धड़कन भीतर से ऐसी गूँज गयी है कि जैसे सागर का शोर।

और शायद सन्नाटे की साँय-साँय है भी यह अपने ही भीतर का शोर···अपने ही आकुल अनवरत रक्त-प्रवाह की गूँज। सीपी में हम जव सागर का शब्द सुनते हैं, तब अपने ही रक्त का मर्मर (टलमलाना ?) सुनते हैं। और शायद इसीलिए कोई साँय-साँय को भाँय-भाँय भी सुन सका हो, रक्त के अतिरिक्त दबाव से जिसकी धमनियाँ अपना लचकीलापन खोकर पथरा गयी हों (डॉक्टर कहते हैं कि उनमें चूने का अस्तर लग जाता है) उसे उनमें रक्त का प्रवाह वैसा ही सुन पड़ सकता है जैसा धातु के पाइप में से दौड़ता हुआ द्रव, न कि पेड़-पत्तियों में से सनसनाती हुई मुक्त हवा।

लेकिन साँय-साँय और भाँय-भाँय ये जो भेद हैं, उसे लेकर झाँय-झाँय करने की आवश्यकता नही। ऐसे सूक्ष्म भेद होते ही है, और जीवन-वैचित्र्य के सहायक हैं। भौंरे की गुनगुनाहट, मक्खी की भिनभिनाहट, मच्छर की पिनपिनाहट एक ही ध्वनि के मन्द, मध्य और तार रूप के लिए देखिए कितना सूक्ष्म, कितना स्पष्ट भेद रखने वाले ध्वन्यनुसारी शब्द हैं। चिड़ियाँ चहचहाती हैं, मगर उसका वच्चा चिचियाता है।

दीन वकरी मिमियाती है, दीन कुत्ता रिरियाता है, दीन मानव गिड़-गिड़ाता है। और मै जो कुछ कह रहा हूँ, आपको लगेगा कि यह वड़-वड़ाता है; उस पर आप कुछ कहेंगे तो मैं समझूँगा कि व्यर्थ भड़-भड़ाते है। यही कह दूंगा तो आप वौखला उठेंगे, और मैं फिसफिसाकर रह जाऊँगा।

फिर सन्नाटा हो जायगा। लेकिन सुनिए तो, सन्नाटे का स्वर है, सॉय-सॉय। याकि——?

—'अज्ञेय'

प्रश्न-अभ्यास

१. 'सन्नाटा शब्द का ही एक गुण है।' लेखक के इस कथन को समझाइए।

२. ध्वन्यनुसारी शब्द किन्हे कहते है? पाँच उदाहरण दीजिए।

३. जिस प्रकार स्वर के क्षेत्र मे सन्नाटा नकारात्मक प्रतीत होता है उसी प्रकार अन्य इन्द्रियो के क्षेत्र मे उदाहरण दीजिए।

४. मानव सम्पूर्ण नकार से क्यो डरता हे? नकार के विषय मे लेखक के विचार वताइए।

५. लेखक ने सन्नाटा के लिए प्रयुक्त भाँय-भाँय के प्रयोग मे शब्द-निर्माण की कौन-सी टेकनिक के दर्शन किये है?

६. वे कौन-कौन से कारण है जिनसे ध्वन्यनुसारी शब्दों में भी भेद दिखायी पड़ता है? ध्वन्यनुसारी शब्द का कोई एक उदाहरण लेकर उसके विविध भेदों का कारण सहित उल्लेख कीजिए।

७. ईश्वर के सव विशेपण नकारात्मक क्यो है?

८. गुनगुनाहट एंव भिनभिनाहट शब्द गुनगुन एव भिन-भिन शब्दो मे 'आहट' प्रत्यय के योग से वने है। 'आहट' प्रत्यय के योग से वने अन्य पाँच शब्द वताइए।

९. ज्ञानेन्द्रियों के नाम और उनके विषय वताइए।

१०. शब्द-निर्माण मे ध्वनि का अनुसरण एक मुख्य स्थान रखता है। कैसे? उदाहरण देकर समझाइए।

११. निम्नलिखित अवतरणो की सन्दर्भ सहित व्याख्या कीजिए :—

(१) 'स्थिति वैचित्र्य तो···सीधी-सी वात वे भूल गये।'

(२) 'और शायद सन्नाटे की साँय-साँय··सनसनाती हुई मुक्त हवा।'

डॉ० नगेन्द्र (सन् १९१५)

हिन्दी के गद्य शैलीकारों एवं निबन्ध लेखकों मे डॉ० नगेन्द्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके अधिकांश श्रेष्ठ निबन्ध समीक्षात्मक है, जिनमे साहित्य के सिद्धान्तों, साहित्यकारों और श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों का प्रौढ़ भाषा में गम्भीर विवेचन हुआ है। इनके अतिरिक्त उनके कुछ निबन्ध आत्मपरक, संस्मरणात्मक और यात्रा-सम्बन्धी भी हैं। उनका सहृदय व्यक्तित्व इन सभी मे ओतप्रोत है।

परिवार और परिवेश का प्रभाव लेखक पर अनिवार्यतः पड़ता है। डॉ० नगेन्द्र का जन्म एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे हुआ। इनके पिता पं० राजेन्द्र जी एक आर्यसमाजी नेता और लेखक थे। पैतृक व्यवसाय जमींदारी था। डॉ० नगेन्द्र की प्रारम्भिक शिक्षा उनके जन्म-स्थान अतरौली और फिर अनूपशहर में हुई, माध्यमिक शिक्षा चंदौसी मे और उच्चतर शिक्षा आगरा के सेन्ट जान्स कालेज मे हुई। इसी कालिज से उन्होने अंग्रेजी में एम० ए० सन् १९३६ मे किया, फिर सन् १९३७ में व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप मे हिन्दी में एम० ए० नागपुर विश्वविद्यालय से किया। आगरा विश्वविद्यालय से सन् १९४७ में उन्होंने डी० लिट्० की डिग्री प्राप्त की। उनकी प्रतिभा का बीज-वपन आगरा में हुआ, और सेन्ट जान्स कालिज का वातावरण तथा आगरा की सुप्रसिद्ध आलोचनात्मक पत्रिका साहित्य सन्देश उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के विधान मे विशेप सहायक हुए।

डॉ० नगेन्द्र का वर्तमान कैरियर वास्तव में दिल्ली मे ही आरम्भ, विकसित और पोपित हुआ। प्रारम्भ मे वे दिल्ली के रामजस कालिज आफ कामर्स मे अंग्रेजी के प्राध्यापक नियुक्त हुए, फिर आकाशवाणी के हिन्दी समाचार-विभाग के निरीक्षक और तत्पश्चात् दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग मे प्राध्यापक फिर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए।

डॉ० नगेन्द्र ने सामाजिक और राजनैतिक जीवन से दूर रह कर अधिकांश समय साहित्यिक सेवा मे ही लगाया और इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पदों पर रहे। प्रायः सभी प्रकार की विशिष्ट हिन्दी सस्थाओं एवं भारत सरकार की हिन्दी

समितियो के वे परामर्शदाता रहे और विभिन्न सस्थाओं द्वारा उन्हे सम्मानित किया गया। उनकी कृतियों पर डालमिया पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिन्दी समिति पुरस्कार, मध्य प्रदेश हिन्दी परिषद् पुरस्कार और दिल्ली की साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किये गये हैं। भारत सरकार की पारिभाषिक शब्दावली और कोश-निर्माण की योजना मे उन्होने मानविकी विद्याओ के शब्द कोश का सम्पादन किया और इन दिनों भी दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर होने के साथ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के एक सम्मानित परामर्शदाता भी हैं।

डॉ० नगेन्द्र के साहित्य-सृजन का आरम्भ कविता और समीक्षात्मक लेखो से हुआ। १ **वनबाला** और २. **छन्दमयी** उनके काव्य-संग्रह हैं और प्रारम्भिक समीक्षात्मक कृतियाँ है—३ **सुमित्रानन्दन पंत**, ४ **साकेत : एक अध्ययन** और ५ **आधुनिक हिन्दी नाटक**। इन तीन प्रारम्भिक कृतियों द्वारा वे सन् १६४० तक ही हिन्दी के समालोचना-जगत् में सुप्रतिष्ठित हो चुके थे। उनकी अन्य सुप्रसिद्ध कृतियाँ है—६ **विचार और अनुभूति**, ७. **विचार और विवेचन**, ८ **विचार और विश्लेषण**, ६. **आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ**, १० **रीतिकाव्य की भूमिका** तथा ११. **देव और उनकी कविता**। १२. **आस्था के चरण** मे उनके समस्त लेखो का सग्रह किया गया है। १३. **अप्रवासी की यात्राएँ** मे उनके यात्रा-सस्मरण हैं।

डॉ० नगेन्द्र हृदय से कवि और स्वभाव से समीक्षक अर्थात् साहित्य के रसास्वादक हैं। अत उनके निवन्धों मे सहृदयता और पाण्डित्य का संतुलन है। अध्यापन के व्यवसाय का प्रभाव भी उनकी निबन्ध-शैली पर अकित हुआ हें। वे निबन्ध को एक कला-सृष्टि मानते हैं, जिसका आदि-मध्य-अन्त अत्यन्त सावधानीपूर्वक प्रकल्पित और प्रणीत होता हैं। वे अपने विचारो को पूरे मनन के उपरान्त रचना का रूप देते है, जिसकी उठान, विकास और परिणति कलाकार के सयम की सूचक होती है। उनके निवन्धो की कसावट, स्फटिक तुल्य पारदर्शिता, तर्कसगत विचार-गुफन, कट्टरता से रहित दृढता, प्रत्येक तथ्य के सभी पहलुओं पर धैर्य से विचार करना और पाठक के साथ मिलकर साहित्यिक कृति का रस ग्रहण करना आदि ऐसे गुण हैं जिन्होंने उन्हे विशेष लोकपियता प्रदान की हैं।

डॉ० नगेन्द्र के भाषा-प्रयोग मे विशेष सावधानी, सयम और समन्वय लक्षित होता हैं। सामान्यतः वे सस्कृत गर्भित भापा का प्रयोग करते हैं, जो सामान्य पाठक के लिए कठिन होकर भी, आलोचना के लिए अनिवार्य होती है। इसके

अतिरिक्त, आलोचनात्मक निवन्धो में पारिभाषिक शब्दावली का अधिक प्रयोग भी अनिवार्य हो जाता हैं। डॉ० नगेन्द्र ने सस्कृत के साथ अग्रेजी की भी पारिभाषिक शव्दावली का कही-कही प्रयोग किया है। फिर भी कुल मिलाकर भाषा इतनी स्पप्ट और निखरी हुई हैं कि उसमे उलझन अथवा दुरूहता नही आने पाती।

प्रस्तुत निवन्ध **आलोचक की आस्था** शीर्षक सग्रह से लिया गया है। इसमे लेखक ने वास्तव मे आलोचक के रूप मे आत्म-विश्लेपण ही किया है, अर्थात् आलोचना लिखने के साथ-साथ उन्हे जो निजी अनुभव प्राप्त हुए है उनका विवेचन किया हैं। वे आलोचना को कोरा वौद्धिक विवेचन न मानकर ललित अर्थात् रसात्मक और आनन्ददायी साहित्य का अंग मानते हैं। उसमें कलात्मकता और वौद्धिकता का सुखद सामजस्य होता है। सामान्य पाठक अपने रसास्वादन को प्रकट नही कर पाता अथवा प्रभावशाली ढग से प्रकट नही करता, परन्तु आलोचक ऐसा करने मे समर्थ होता है। इसी मे उसकी प्रतिभा और सर्जनात्मकता प्रकट होती हैं।

———

आलोचक की आस्था

मै व्यवसाय से आलोचक हूँ, अतः आपके मन में यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आलोचना के विषय में मेरी मान्यताएँ क्या हैं ? किन्तु वास्तविकता यह है कि आलोचना के विषय म मने सबस कम सोचा है। यह बात विचित्र लग सकती है, किन्तु है नहीं ; क्योंकि आलोचना मरे व्यवहार का विषय ह, विचार का नही। जिस प्रकार कवि असल मानी में कविता की रचना से ही सरोकार रखता है, उसके तत्त्व-चिन्तन से नहीं, उसी प्रकार आलोचक भी मूलतः काव्य का ही विचार करता है, आलोचना का नही। लेकिन जिस तरह कवि-कर्म के प्रति-प्रबुद्ध कवि काव्य का तत्त्व-चिन्तन कर सकता है और प्रायः करता भी है, इसी तरह आलोचक क लिए भी अपने कर्म की व्याख्या, अर्थात् उसके आदर्श तथा व्यवहार की व्याख्या, प्रस्तुत करना कठिन नही है : और, जो हाजिर है उसमें हुज्जत क्या !

आलोचना को मैं निश्चय ही ललित साहित्य का अंग मानता हूँ। आलोचना कला है या विज्ञान ? यह प्रश्न नया नही है।---लेकिन आलोचना के स्वरूप-निर्धारण मे इसकी सार्थकता आज भी असदिग्ध है। आलोचना की आत्मा कलामय है किन्तु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है। आत्मा के कलामय होने का अर्थ यह है कि आलोचना भी मूलतः आत्माभिव्यक्ति ही है---यहाँ भी आलोचक कला-कृति के विवेचन-विश्लेषण के माध्यम से आत्मलाभ करता है। आलोचना का विषय रसात्मक होता है और आलोचना की परिणति भी आत्मसिद्धि मे ही होती है, अतः रस का अभिषेक आलोचना में भी रहता है।

शरीर-रचना के वैज्ञानिक होने का आशय यह है कि आलोचना की पद्धति मे विज्ञान के रीति-नियमों का पालन करना आवश्यक तथा उपादेय होता है। यही वह गुण है जो आलोचक को सामान्य सहृदय से वैशिष्ट्य प्रदान करता है। मैंने आज से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व आत्म-निरीक्षण के आधार पर अपने एक लेख में यह स्थापना की थी कि आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है। उस समय मेरा शास्त्र से घनिष्ठ परिचय नही था, इसलिए शास्त्र के परिचित पारिभाषिक शब्द 'सहृदय' के स्थान पर मुझे 'रसग्राही पाठक' शब्दावली का प्रयोग करना पड़ा था। मेरी मान्यता अब भी वही है, शास्त्र ने उसे और पुष्ट कर दिया है। कृति के रस-ग्रहण के संदर्भ में आलोचक सहृदय से अभिन्न है, किन्तु इस रस-तत्त्व के विवेचन में वह पाठक से विशिष्ट है। दोनों के भेद की बात बहुत-कुछ वैसी ही है जैसी कि क्रोचे ने साधारण कलाकार और विशेष व्यवसायी कलाकार के भेद के विषय में कही है—क्रोचे के मत से प्रत्येक व्यक्ति कलाकार होता है—उसमें और व्यावसायिक कलाकार मे भेद प्रकृति का नहीं होता : गुण और मात्रा का होता है अर्थात् व्यावसायिक कवि के पास सामान्य व्यक्ति-कवि की अपेक्षा अपनी सहजानुभूति को मूर्त्त रूप प्रदान करने के साधन एवं उपकरण अधिक होते हैं। यही भेद सामान्य सहृदय और विशष सहृदय अर्थात् आलोचक मे होता है। साहित्य का आस्वादन दोनों ही करते हैं किन्तु उस आस्वादन का विश्लेषण आलोचक ही कर सकता है। कुछ विदग्धों के मन में यह शंका उठती है कि इस विवेचन-विश्लेषण से क्या लाभ? अर्थात् भोक्ता और कर्त्ता के बीच में इस मध्यस्थ अभिकर्त्ता की क्या आवश्यकता? आलोचक के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रायः वैसा ही होता है जैसा कि जीवन-व्यवहार में सामान्य उपभोक्ता का अभिकर्त्ता या एजेण्ट के प्रति होता है। किन्तु यह सहज स्थिति नहीं है। वैसे तो अर्थ-विधान के अंतर्गत अभिकर्त्ता का महत्त्व भी कम नहीं है—वह निर्माता के समकक्ष नहीं है, यह ठीक है; परन्तु निर्माता

उस पर काफ़ी हद तक निर्भर करता है, यह भी उतना ही सत्य है। फिर भी आलोचक अभिकर्त्ता नही है। उसकी भूमिका कही अधिक सर्जनात्मक ह। वह कवि या कथाकार की कोटि का सर्जक नही है, किन्तु उसका कर्म भी अपने ढंग से सर्जनात्मक है, इससे इन्कार नही किया जा सकता। काव्य का विषय जीवन है पर कवि अपने विषय का सृजन नही करता, पुन.सृजन ही करता है। इसी तरह आलोचना का विषय काव्य है और आलोचक भी एक प्रकार से अपने आलोच्य विषय का पुन.सृजन करता है। सृजन क हो अर्थ मे आलोचना-शास्त्र के अन्तर्गत एक और सरल शब्द का प्रयोग होता है और वह है आख्यान। काव्य की एक अत्यंत परिचित परिभाषा है--काव्य जीवन का आख्यान है। इसी शब्द का प्रयोग करत हुए सीधे तौर पर कहा जा सकता है कि आलोचना काव्य का आख्यान है। यहाँ भी, स्पप्ट है कि आख्यान विवेचन मात्र का वाचक न होकर पुन.सृजन का ही वाचक है, अन्यथा 'काव्य जीवन का आख्यान है'--यह वाक्य सही अर्थ खो बैठता है। आलोचना के सदर्भ में भी आख्यान वस्तु-विश्लेपण मात्र नही है, यहाँ भी पुन.सृजन की प्रक्रिया चलती है। भेद केवल दो है। पहला भेद करण या साधन का है---अर्थात् कवि के साधनों मे भावना और कल्पना प्रधान है, बुद्धि प्राय. संश्लेषण मे ही सहायक होती है, जबकि आलोचक के कर्म मे मूलतः भावना और कल्पना का सम्यक् उपयोग रहते हुए भी बुद्धि अधिक सक्रिय रहती है। दूसरा भेद सृजन-शवित के वलाबल का है। कवि जीवन का पुनः-सृजन करता है और आलोचक काव्य का, अर्थात् जीवन क पुनःसृजन का पुन सृजन करता है। सृजन का परिणाम है पदार्थ और पुनःसृजन का परिणाम है बिम्ब। अतएव कवि-व्यापार मे बिम्व-रचना का ही प्रधान्य रहता है। इस पद्धति से पुनःसृजन क पुन.सृ जन का अर्थ होता है बिम्ब के भी बिम्ब=प्रतिबिम्ब का निर्माण, अर्थात् एस बिम्ब का निर्माण जो रचना-प्रक्रिया में बिम्ब की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और

धूमिल हो जाता है। इस प्रकार, आलोचक का कर्म कवि-कर्म की अपेक्षा कम सर्जनात्मक रह जाता है, यह सच है। कवि-कर्म मे जहाँ बिम्बों के प्रयोग की प्रचुरता रहती है वहाँ आलोचना मे इन विम्बों की धारणा या प्रत्यय अधिक उपयोग में आते हैं—और सही शब्दों में काव्य में ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब प्रमुख रहते हैं जबकि आलोचना में मानसिक-प्रज्ञात्मक बिम्बों का अधिकांश रहता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कवि-कथाकार और आलोचक की सर्जन-क्षमता में मात्रा और साधन-उपकरण का ही भेद अधिक है, प्रकृति का भेद इतना नहीं है। जिस प्रकार काव्य भाव का उफान या कल्पना की क्रीड़ा नहीं है, इसी प्रकार आलोचना भी बुद्धि का विलास नही है। कविता, उपन्यास या नाटक की भाँति आलोचना भी सर्जनात्मक संदर्शन (क्रिएटिव विज़न) से अनुविद्ध एवं परिव्याप्त रहती है। कवि यदि रमणीय (राग-कल्पनात्मक) अनुभूतियों के माध्यम से आत्माभिव्यक्ति करता है तो आलोचक कवि की इस आत्माभिव्यक्ति के आख्यान के माध्यम से। इसी अर्थ में और इसी कारण से आलोचना को मैं ललित साहित्य का अंग मानता हूँ।

आलोचना का यही तात्त्विक (या सात्त्विक) स्वरूप है। इसके आगे आलोचना और आलोचक के कुछ अन्य कर्त्तव्य-कर्मों की भी चर्चा की जाती है—जैसे साहित्य का मूल्यांकन, उसकी गतिविधि का नियमन, आदि। मेरी दृष्टि से यह सब आरोपित दायित्व है, और काफ़ी हद तक व्यावसायिक कर्म है। मूल्यांकन की उपेक्षा मैं नहीं करता—वह भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अनायास ही हो जाता है। कृति के आस्वाद का विश्लेपण करते हुए आपसे-आप दोनों प्रकार के तत्त्व उभरकर सामने आ जाते हैं: ऐसे तत्त्व जो उसके आस्वाद्यत्व के साधक हैं और वे तत्त्व भी जो उसमें बाधक है। आस्वाद के विश्लेषण में उसके उन स्थायी और अस्थायी तत्त्वों की परीक्षा भी निहित रहती है जो अन्ततः नैतिक और मानवीय मूल्यों से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार

मूल्यांकन कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया न होकर आख्यान की प्रक्रिया का ही अंग---सही शब्दों में---परिणामी अंग है, और, इस रूप में वह काम्य भी है, कम-से-कम, उपादेय तो है ही। किन्तु, स्वतन्त्र कर्म के रूप में वह व्यवसाय वन जाता है और व्यवसाय तथा धर्म मे जितना अन्तर है, उतना ही मूल्यांकन और आलोचना के सहज रूप में भी पड़ जाता है : स्वतन्त्र रूप में मूल्यांकन, वास्तव में, सर्जनात्मक नही रह जाता।

साहित्य की गतिविधि के नियमन का दायित्व और भी अधिक व्यावसायिक है; उसमें रस के स्थान पर शक्ति की स्पृहा ही प्रमुख हो जाती है। वहाॅ सर्जन का तो प्रश्न ही नहीं उठता, निर्माण या रचना का कार्य भी पीछे पड़ जाता है और राजनीति अर्थात् बलाबल की नाप-तोल ही सामने रहती है। मैं समझता हूँ कि यहाँ साहित्यकार स्वधर्म से च्युत हो जाता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति के स्थान पर मताग्रह का बोलबाला हो जाता है और रागद्वेष के विगलन के स्थान पर अहंकार का सवर्धन ही मुख्य हो जाता है। स्पष्ट है कि रस के साहित्य के अन्तर्गत यह सब नही आ सकता। इस प्रकार का दम्भ लेकर जो आलोचक चलता है, वह समर्थ प्रचारक तो बन सकता है मर्मवेत्ता साहित्यकार नही।

आप शायद साहित्य के इतिहास से कुछ प्रमाण देकर मेरी स्थापना का खण्डन करना चाहें। मल्लिनाथ की यह गर्वोक्ति संस्कृत-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध है :

भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्याविषमूर्च्छिता।
एषा सञ्जीविनी व्याख्या तामद्योज्जीवयिष्यति ॥

—मल्लिनाथ, सं० टी० कुमारसम्भव १।१

---कालिदास की भारती दुर्व्याख्या के विष से मूर्च्छित पड़ी थी ; मेरी यह संजीवनी टीका आज उसे जीवनदान करेगी।

आचार्य शुक्ल ने भी क्या जायसी का उद्धार नहीं किया ? मैं समझता हूँ कि यह दृष्टि-भ्रम है। मल्लिनाथ और आचार्य शुक्ल को

निमित्त होने का श्रेय अवश्य दिया जा सकता है--किन्तु कालिदास या जायसी के निर्माता ये कैसे माने जा सकते हैं ? कालिदास के संदर्भ मे मल्लिनाथ की गर्वोक्ति का महत्त्व आलोचक के आत्मतोष से अधिक मानना क्या किसी मर्मज्ञ के लिए सम्भव है ? वास्तव में उसे अभिधार्थ में ग्रहण करने की मूर्खता कौन कर सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि जायसी को प्रकाश में लाने का श्रेय शुक्लजी को है किंतु शुक्लजी को अधिक-से-अधिक अनुसंधान का ही गौरव दिया जा सकता है । रत्न की खोज या परख करने वाला, रत्न की मूल्यवत्ता का कारण नही हो सकता । इसी अर्थ में, बड़े-से-बड़ा आलोचक भी कवि को बनाने या बिगाड़ने का गर्व नही कर सकता । महावीर प्रसाद द्विवेदी के विषय मे मैथिलीशरण गुप्त के निर्माण का दावा करना उतना ही ग़लत है जितना 'विशाल भारत' के सम्पादक के लिए 'निराला' को नष्ट कर देने का दंभ करना ।

इसी प्रकार, साहित्य की गतिविधि के नियन्त्रण का दायित्व भी आलोचक के स्वधर्म से बाहर की बात है । साहित्य का विकास प्रज्ञा के आधार पर न होकर सर्जना के आधार पर ही होता है ; और, जैसा कि मैं अभी स्पष्ट कर चुका हूँ,--समान स्तर पर तुलना करने पर--कलाकार की सर्जना-शक्ति आलोचक की सर्जना-शक्ति से अधिक प्रवल ठहरती ही है। जो साहित्य आलोचना की गर्मी से मुरझा जाय या जिसके विकास के लिए आलोचना के सहारे की जरूरत पड़े उसमे प्राण-शक्ति कम ही माननी चाहिए : साहित्य की दिशा तो स्रष्टा कलाकार ही देता है । आलोचक संघात और प्रतिघात से उसकी प्रतिभा पर शाण रखने का कार्य करता है। उदाहरण के लिए, शुक्लजी जैसे आलोचक की मेधा की चट्टान से टकराकर छायावादी कवियों की प्राणधारा में और भी अधिक वेग आ गया था । अभी किसी लेखक ने नई कविता की सफाई मे लिखा था कि उसे वैसे समर्थ आलोचक नही मिले जैसे कि छायावाद को अनायास ही प्राप्त हो गये थे । मैं

समझता हूँ कि यह उलटी दलील है। वास्तव मे छायावाद की आलोचना इसलिए अधिक पुष्ट और प्रौढ़ है कि उसका आलोच्य विषय अपेक्षाकृत अधिक भव्य है; क्योंकि यह तो एक परीक्षित तथ्य है कि किसी युग की आलोचना का स्तर उसके साहित्य के स्तर को अवाध रूप से प्रतिविम्बित करता है। अतः साहित्य की गतिविधि का नियन्त्रण करने की महत्त्वाकांक्षा आलोचक के लिए कल्याणकर नहीं हो सकती। मेरे मन मे यह आकांक्षा कभी नहीं उत्पन्न हुई। आलोचना-कर्म के प्रति मेरे अपने दृष्टिकोण मे इसके लिए कोई अवकाश ही नही रहा। इसीलिए प्रायः प्रतिष्ठित, या ऐसा काव्य ही, जिसमे स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हों, मेरी आलोचना का विषय रहा है—किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मेरे मन मे नहीं आयी। इसीलिए, शायद अपने सामयिक या नये लेखकों में मैं कभी लोकप्रिय नहीं हो सका। पर, मैं इसे अपना दुर्भाग्य नहीं मानता, क्योंकि आलोच्य विपयों की गरिमा से जो कुछ मैंने पाया है वह लोकप्रियता से अधिक काम्य और स्थायी है।

—डॉ० नगेन्द्र

प्रश्न अभ्यास

१. निम्नलिखित उक्तियो का स्पष्टीकरण कीजिए :—

(क) 'आलोचना मेरे व्यवहार का विपय है विचार का नही।'

(ख) 'आलोचना की आत्मा कलामय है, किन्तु इसकी शरीर-रचना वैज्ञानिक है।'

(ग) 'आलोचक एक विशिष्ट रसग्राही पाठक ही होता है।'

(घ) 'काव्य जीवन का आख्यान है और आलोचना काव्य का आख्यान।'

(ङ) 'कवि जीवन का पुन सृजन करता है और आलोचक काव्य का।'

२. निम्नलिखित शव्दो का अर्थ स्पप्ट कीजिए—

आत्माभिव्यक्ति, आत्मलाभ, अभिकर्त्ता, आत्मनिरीक्षण, सहृदय, कृतिकार, तत्त्वचिन्तन, विदग्ध, मताग्रह।

३. निम्नलिखित शब्दों के अर्थ में अन्तर समझाइए—
आख्यान-व्याख्यान, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, प्रचार-प्रसार, विवेचन-विश्लेषण, सृजन-निर्माण, रचना-व्यवस्था, परम्परा-पद्धति ।
४. डॉ० नगेन्द्र के व्यक्तित्व की विशेपता है कि वे अपनी बात को बलपूर्वक और स्पष्ट रूप में कहते हैं—ऐसे चार उदाहरण इस निबन्ध से छाँटिए ।
५. किन आलोचकों ने किन कवियों के उद्धार और प्रतिष्ठा अथवा विरोध और विनाश मे विशेष भाग लिया ? ऐसे चार उदाहरण इस निबन्ध से प्रस्तुत कीजिए ।
६. प्रस्तुत निबन्ध के आधार पर डॉ० नगेन्द्र की भाषा-शैली की विशेषताएँ बताइए ।
७. 'आलोचक की आस्था' निबन्ध की सामान्य विशेषताएँ बताइए ।
८. प्रस्तुत निवन्ध के आधार पर लेखक के मन्तव्य को स्पष्ट कीजिए ।
९. विचारात्मक निबन्ध की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए सिद्ध कीजिए कि प्रस्तुत निबन्ध विचारात्मक है ।

———

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी (सन् १६१६)

प्रोफेसर जी० सुन्दर रेड्डी श्रेष्ठ विचारक, समालोचक एवं निवन्धकार हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। गत बत्तीस वर्षों से वे आन्ध्र विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हैं। संप्रति वे वहाँ के स्नातकोत्तर अध्ययन एव अनुसंधान विभाग के अध्यक्ष एवं प्रोफेसर हैं। इनके निर्देशन में हिन्दी और तेलुगु साहित्यों के विविध पक्षों के तुलनात्मक अध्ययन पर शोध कार्य हो रहा है।

अब तक रेड्डी जी के आठ ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी १. **साहित्य और समाज, २. मेरे विचार, ३. हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन, ४. दक्षिण की भाषाएँ और उनका साहित्य, ५ वैचारिकी, शोध और बोध, ६. वेलुगु दारुल** (तेलुगु), ७. **लांग्वेज प्रोबलम इन इंडिया** (सपादित अग्रेजी ग्रथ) आदि कृतियो से साहित्य ससार सुपरिचित है। इनके अतिरिक्त हिन्दी, तेलुगु तथा अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओ मे कई निवन्ध प्रकाशित हुए हैं। उनके प्रत्येक निबन्ध मे उनका मानवतावादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

(१) **हिन्दी और तेलुगु : एक तुलनात्मक अध्ययन**—मे रेड्डी जी ने दोनों साहित्यो की प्रमुख प्रवृत्तियो तथा प्रमुख साहित्यकारो का अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस कृति की उपादेयता के सम्बन्ध मे उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल डॉ० वी० गोपाल रेड्डी जी ने लिखा है—"**यह ग्रंथ तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र का पथप्रदर्शक है।**"

(२) **दक्षिण की भाषाएँ और उनका साहित्य**—मे इन्होने दक्षिण भारत की चारों भाषाओं (तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम) तथा उनके साहित्यों का इतिहास प्रस्तुत करते हुए उनकी आधुनिक गतिविधियों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है। सभी ग्रथों मे इनकी भाषा-शैली सर्वथा भाव और विषय के अनुकूल बन पड़ी है, जिसमे इनका साहित्यिक व्यक्तित्व पूर्णरूप से मुखरित हुआ है।

इनका प्रस्तुत निबन्ध 'भाषा और आधुनिकता' उक्त विशेषताओं का ज्वलन्त उदाहरण है।

श्री रेड्डी की हिन्दी साहित्य-सेवा, साधना एवं निष्ठा सराहनीय है। हिन्दीतर प्रदेश के निवासी होते हुए भी प्रो० रेड्डी ने हिन्दी भाषा पर अच्छा अधिकार प्राप्त कर लिया है। इनकी भाषा परिमार्जित तथा सशक्त है और शैली विषय के अनुसार ढल जाती है। कठिन से कठिन विषय को सरल एवं सुबोध ढग से प्रस्तुत करना इनकी अपनी विशेषता है। प्रो० रेड्डी से हिन्दी साहित्य को आगे भी बड़ी आशाएँ है।

भाषा की समस्याओं पर विद्वानों ने बहुत लिखा है परन्तु भाषा और आधुनिकता पर विशेष रूप से नही लिखा गया। विद्वान् लेखक ने वैज्ञानिक दृष्टि से भापा और आधुनिकता पर विचार किया है। भाषा परिवर्तनशील होती है इसका इतना ही अर्थ है कि भाषा मे नये भाव, नये शब्द, नये मुहावरे तथा लोकोक्तियाँ, नयी रीतियाँ सदैव आती रहती है। इन सब का प्रयोग ही भाषा को व्यावहारिकता प्रदान करता हुआ भाषा में आधुनिकता लाता है। विद्वान् लेखक का मत है कि हमे वैज्ञानिक शब्दावली को ज्यों का त्यो लेना चाहिए। व्यावहारिकता की दृष्टि से प्रो० रेड्डी का यह सुझाव विचारणीय है।

भाषा और आधुनिकता

किसी भी क्षेत्र में रमणीयता लाने के लिए नित्य नूतनता की आवश्यकता होती है, इसी को दृष्टि में रखकर ही माघ ने कहा होगाः—

'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः'

रमणीयता और नित्य नूतनता अन्योन्याश्रित है, रमणीयता के अभाव में कोई भी चीज मान्य नहीं होती। नित्य नूतनता किसी भी सर्जक की मौलिक उपलब्धि की प्रामाणिकता सूचित करती है और उसकी अनुपस्थिति मे कोई भी चीज वस्तुतः जनता व समाज के द्वारा स्वीकार्य नहीं होती। सड़ी-गली मान्यताओं से जकड़ा हुआ समाज जैसे आगे बढ नही पाता, वैसे ही पुरानी रीतियों और शैलियों की परंपरागत लीक पर चलने वाली भाषा भी जन-चेतना को गति देने मे प्रायः असमर्थ ही रह जाती है। भाषा समूची युग-चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है और ऐसी सशक्तता तभी वह अर्जित कर सकती है जब वह अपने युगानुकूल सही मुहावरों को ग्रहण कर सके। भाषा सामाजिक भाव-प्रकटीकरण की सुबोधता के लिए ही उद्दिष्ट है, उसके अतिरिक्त उसकी जरूरत ही सोची नही जाती। इस उपयोगिता की सार्थकता समसामयिक सामाजिक चेतना मे प्राप्त (द्रष्टव्य) अनेक प्रकारों की संश्लिष्टताओं की दुरूहता का परिहार करने मे ही निहित है। कभी-कभी अन्य संस्कृतियों के प्रभाव से और अन्य जातियों के संसर्ग से भाषा मे नये शब्दों का प्रवेश होता है और इन शब्दों के सही पर्यायवाची शब्द अपनी भाषा मे न प्राप्त हों तो उन्हे वैसे ही अपनी भाषा मे स्वीकार करने मे किसी भी भाषा-भाषी को आपत्ति नही होनी चाहिए। यही भाषा की आधुनिकता होती है।

भाषा की सजीवता इस नवीनता को पूर्णतः आत्मसात् करने पर ही निर्भर करती है। भाषा 'म्यूजियम' की वस्तु नही है, उसकी स्वत सिद्ध एक सहज गति है, जो सदैव नित्य नूतनता को ग्रहण कर चलने वाली है।

भाषा स्वयं संस्कृति का एक अटूट अंग है। संस्कृति परंपरा से नि.सृत होने पर भी, परिवर्तनशील और गतिशील है। उसकी गति विज्ञान की प्रगति के साथ जोड़ी जाती है। वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव के कारण उद्भूत नयी सांस्कृतिक हलचलों को शाब्दिक रूप देने के लिए भाषा के परंपरागत प्रयोग पर्याप्त नहीं है। इसके लिए नये प्रयोगों की, नयी भाव-योजनाओं को व्यक्त करने के लिए नये शब्दों की खोज की महती आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह है कि भाषा में ये परिवर्तन कैसे संभव हैं? यत्नसाध्य अथवा सहजसिद्ध? यत्नसाध्य से हमारा तात्पर्य यह है कि भाषा को युगानुकूल बनाने के पीछे किसी व्यक्ति-विशेष अथवा व्यक्ति समूह का प्रयत्न होना ही चाहिए। सहजसिद्ध से आशय इतना ही है कि भाषा की यह गति स्वाभाविक होने के कारण यह किसी प्रयत्न-विशेष की अपेक्षा नहीं रखती है। यदि उपलब्ध भाषा वैज्ञानिक आधारों का पर्याप्त अनुशीलन करे, तो पहली बात ही सत्य सिद्ध होगी। अठारहवीं शती मे अंग्रेजी भाषा ने और बीसवी शती में जापानी भाषा ने इस नवीनीकरण की पद्धति को अपनी कोशिशों से सम्पन्न बनाया। हर भाषा की अपनी खास प्रवृत्ति होती है, शब्द-निर्माण तथा अर्थग्रहण की दिशा में उसका अपना अलग रुख होता है। उस विशेष प्रवृत्ति के रुख को ध्यान में रखकर ही, बिना उस भाषा की मूल आत्मा को विकृत बनाये हम अन्य भाषागत शब्दों को स्वीकार कर सकते हैं, चंद रूपगत परिवर्तनों के साथ। यह काम एशिया और अफ्रीका जैसे वैज्ञानिक साहित्य-सृजन की दिशा में पिछड़े हुए देशों में और भी सत्वर होना चाहिए और इसकी अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा की साधारण इकाई शब्द है, शब्द के अभाव में भाषा का अस्तित्व ही दुरूह है। यदि भाषा मे विकसनशीलता शुरू होती है तो शब्दों के स्तर पर ही। दैनंदिन सामाजिक व्यवहारों में हम कई ऐसे नवीन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं, जो अंग्रेजी, अरबी, फारसी आदि विदेशी भाषाओं से उधार लिये गये हैं। वैसे ही नये शब्दों का गठन भी अनजाने में अनायास ही होता है। ये शब्द अर्थात् उन विदेशी भाषाओं से सीधे अविकृत ढंग से उधार लिये गये शब्द, भले ही कामचलाऊ माध्यम से प्रयुक्त हों, साहित्यिक दायरे में कदापि ग्रहणीय नहीं। यदि ग्रहण करना पड़े तो उन्हें भापा की मूल प्रकृति के अनुरूप साहित्यिक शुद्धता प्रदान करनी पड़ती है। यहाँ प्रयत्न की आवश्यकता प्रतीत होती है।

और एक प्रश्न यह है कि कौन इस साहित्यिक शुद्धीकरण का जिम्मा अपने ऊपर ले सकते हैं ? हिन्दी भापा के नवीनीकरण (शुद्धीकरण) के लिए भारत सरकार ने अब तक काफी प्रयत्न किया है। इसके लिए सन् १९५० मे शास्त्रीय एवं तकनीकी शब्दावली आयोग की स्थापना की गयी, जो विज्ञान की हर शाखा के लिए योग्य शब्दावली का निर्माण कर रही है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन जैसी ऐच्छिक सस्थाओं ने भी इस दिशा मे कुछ महत्त्वपूर्ण काम किया। राहुल सांकृत्यायन और डॉ० रघुवीर जैसे मूर्धन्य मनीषियों ने भी इस काम को पहले-पहल अपनी अभिरुचि के कारण अपने ऊपर लेकर, गतिशील बनाने की कोशिश की। अब तक इस दिशा में जो कुछ भी कार्य हुआ है, वह अपर्याप्त ही है। क्योंकि यह कार्य अपनी शैशवकालीन दशा से गुजरकर आगे बढ नही सका। इसकी प्रगति के अवरोध में दो वर्ग बाधा डालते है। प्रथम वह वर्ग, जो अपनी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि के कारण आम प्रचलित उन पराये शब्दों को यथावत् ग्रहण करने मे संकोच करता है। दूसरा वह वर्ग, जो अपने विषय के पारंगत होने पर भी साहित्यिक व भाषा वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अभाव में उन प्रयक्त विदेशी शब्दो को

मनमाने ढंग से विकृत कर अपनी मातृभाषा में थोपना चाहता है—आजकल कई प्रादेशिक सरकारों ने अपनी प्रांतीय भाषाओं में उच्च स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण के लिए कई आयोगों की स्थापना की है। हम आशा करते हैं कि ये आयोग उपर्युक्त उन बाधित तत्त्वों से हटकर अपना काम सुचारु बना सकेंगे।

विदेशी शब्द, जिन्हे अपनी प्रांतीय भाषाओं में ग्रहण करने की आवश्यकता है, खासतौर पर दो तरह के होते हैं: १—वस्तुसूचक २—भावसूचक।

विज्ञान की प्रगति के कारण नयी चीजों का निरंतर आविष्कार होता रहता है। जब कभी नया आविष्कार होता है, उसे एक नयी संज्ञा दी जाती है। जिस देश में उसकी सृष्टि की जाती है वह देश उस आविष्कार के नामकरण के लिए नया शब्द बनाता है। वही शब्द प्रायः अन्य देशों में बिना परिवर्तन के वैसे ही प्रयुक्त किया जाता है। यदि हर देश उसी चीज के लिए अपना-अपना अलग नाम देता रहेगा, तो उस चीज को समझने में ही दिक्कत होगी। जैसे रेडियो, टेलीविजन, स्पुत्निक। प्रायः सभी भाषाओं में इनके लिए एक ही शब्द प्रयुक्त है। और एक उदाहरण देखिए :—'सीढ़ी लगाना'। ऊपर चढ़ने के लिए अनादि काल से भारत मे एक ही साधन मौजूद था—'सीढ़ी'। औद्योगिक क्रांति आदि ने आवश्यकता के अनुसार और भी कई तरह की सीढ़ियों का निर्माण किया जैसे लिफ्ट, एलिवेटर, एस्कलेटर आदि। भारतीयों के लिए ये विल्कुल नये शब्द है और इसलिए भारतीय भाषाओं मे इनके लिए अलग-अलग नाम द्रष्टव्य नही होते। इस स्थिति में उन शब्दों को यथावत् ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। फ्रेंच और लैटिन भापाओं से अंग्रेजी ने ऐसे ही कई शब्दों को आत्मसात् कर लिया और अंग्रेजी से रूसी ने।

कभी-कभी एक ही भाव के होते हुए भी उसके द्वारा ही उसके और अन्य पहलू अथवा स्तर साफ व्यक्त नहीं होते। उस स्थिति में अपनी

भाषा मे ही उपस्थित विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का सूक्ष्म भेदों के साथ प्रयोग करना पड़ता है। जैसे उष्ण एक भाव है। जब किसी वस्तु की उष्णता के बारे मे कहना हो तो हम 'उष्मा' कहते हैं। और परिमाण के संदर्भ मे उसी को हम 'ताप' कहते है। वस्तुतः अपनी मूल भाषा मे उष्ण, उष्मा, ताप—इनमें उतना अंतर नही, जितना अव समझा जाता है। पहले अभ्यास की कमी के कारण जो शब्द कुछ कटु व विपरीत से प्रतीत होते हो सकते है, वे ही कालांतर में मामूली शब्द वनकर सर्वप्रचलित होते है।

नवीनीकरण कितना ही प्रशस्त कार्य क्यों न हुआ हो उस प्रक्रिया में यह भूलना नही चाहिए कि भाषा का मुख्य कार्य सुस्पष्ट अभिव्यक्ति है। यदि सुस्पष्टता एवं निर्दिष्टता से कोई भी भाषा वंचित रहे, तो वह भाषा चिरकाल तक जीवित नही रह सकेगी। नये शब्दों के निर्माण में भी यही वात सोचनी चाहिए। इस सन्दर्भ मे यह भी याद रखना चाहिए कि हम पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर उस शब्द की मूल आत्मा तथा सार्थकता पर उन्मुक्त विचार कर सकें। अग्रेजी भाषा शासकों की भाषा रही और भाव-दासता की निशानी है—ऐसा सोचकर यदि हम नये शब्दों का निर्माण करने में लग जाँय, तो नुकसान हमारा ही होगा, अंग्रेजों का नही। उर्दू मे प्रयुक्त अरबी और फारसी के शब्दों को जो इस्लाम धर्म को ज्ञापित करने वाले है, हिन्दी वाले त्यागना आरंभ करे, तो हिन्दी-भाषा सहज भाषा न रहकर एकदम वनावटी वनेगी।

यदि यह नवीनीकरण सिर्फ कुछ पडितों की व आचार्यों की दिमागी कसरत ही वना रहे तो भाषा गतिशील नही होती। भाषा का सीधा सम्बन्ध प्रयोग से है और जनता से है। यदि नये शब्द अपने उद्गमस्थान मे ही अड़े रहे और कही भी उनका प्रयोग किया नही जाय तो उसके पीछे के उद्देश्य पर ही कुठाराघात होगा। इसके लिए यूरोपीय देशों मे प्रेषण के कई माध्यम है : श्रव्य-दृश्य विधान, वैज्ञानिक कथा-साहित्य आदि।

हमारी भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक कथा-साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। किसी भी नये विधान की सफलता अंततः जनता की सम्मति व असम्मति के आधार पर निर्भर करती है और जनता में इस चेतना को उजागर करने का उत्तरदायित्व शिक्षित समुदाय एवं सरकार का होना चाहिए। भाषा मे आधुनिकता लाने के लिए व्यावहारिक भाषा के स्वरूप का मानकीकरण करने के साथ-साथ लिपि-सम्बन्धी सुधार भी आवश्यक हैं। भाषा के प्रयोग और उपयोग के साथ इन समस्याओं का समाधान जुड़ा हुआ है।

संक्षेप में, नये शब्द, नये मुहावरे एवं नयी रीतियों के प्रयोगों से युक्त भाषा को व्यावहारिकता प्रदान करना ही भाषा मे आधुनिकता लाना है। दूसरे शब्दों मे केवल आधुनिक युगीन विचारधाराओं के अनुरूप नये शब्दों के गढ़ने मात्र से ही भाषा का विकास नहीं होता, वरन् नये पारिभाषिक शब्दों को एवं नूतन शैली-प्रणालियों को व्यवहार में लाना ही भाषा को आधुनिकता प्रदान करना है। क्योंकि व्यावहारिकता ही भाषा का प्राण-तत्त्व है। नये शब्द और नये प्रयोगों का पाठ्य पुस्तकों से लेकर साहित्यिक पुस्तकों तक एवं शिक्षित व्यक्तियों से लेकर अशिक्षित व्यक्तियों तक के सभी कार्यकलापों में प्रयुक्त होना आवश्यक है। इस तरह हम अपनी भाषा को अपने जीवन की सभी आवश्यकताओं के लिए जब प्रयुक्त कर सकेंगे तब भाषा में अपने-आप आधुनिकता आ जायेगी।

—प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी

प्रश्न-अभ्यास

१. 'भापा समूची युग-चेतना की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है।' स्पप्ट कीजिए।

२. लेखक की दृष्टि मे भापा की आधुनिकता का क्या आशय है ?

३. 'भाषा की गति विज्ञान की प्रगति के साथ जोड़ी जाती है।' इस उक्ति की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

४. हिन्दी भापा के नवीनीकरण से लेखक का क्या अभिप्राय है ?

५. लेखक ने हिन्दी भाषा की प्रगति के लिए कौन-कौन से उपाय बताये है ?

६. भाषा को आधुनिक रूप प्रदान करने के लिए कौन-कौन से तत्त्व आवश्यक है ?

७. निम्नलिखित अशों की व्याख्या कीजिए—
   (क) 'नित्य नूतनता किसी भी सर्जक की मौलिक उपलब्धि की प्रामाणिकता सूचित करती है।'
   (ख) 'भाषा 'म्यूजियम' की वस्तु नही है, उसकी स्वत.सिद्ध एक सहज गति है।'
   (ग) 'भाषा स्वयं संस्कृति का एक अटूट अग है।'

८ लेखक ने निम्नलिखित शब्दों का किन अर्थों मे प्रयोग किया है :
यत्नसाध्य, सहजसिद्ध, रमणीयता।

९. इस पाठ की भापा-शैली की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

—

हरिशंकर परसाई (सन् १६२४)

हरिशंकर परसाई का जन्म मध्य प्रदेश मे इटारसी के निकट स्थित जमानी नामक स्थान मे २२ अगस्त सन् १६२४ को हुआ। प्रारम्भ से लेकर स्नातक-स्तर तक की शिक्षा मध्य प्रदेश मे ही हुई और नागपुर विश्वविद्यालय से इन्होने हिन्दी मे एम० ए० किया। कुछ वर्षो तक इन्होने अध्यापन-कार्य किया। अध्यापन-कार्य में ये कुशल थे किन्तु आस्था के विपरीत अनेक बातो का अध्यापन इनको यदा-कदा खटक जाता था।

साहित्य मे इनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। अध्यापन-कार्य के साथ-साथ ये साहित्य-सृजन की ओर मुडे और जब यह देखा कि इनकी नौकरी इनके साहित्यिक कार्य में बाधा पहुँचा रही है तो इन्होने नौकरी को तिलाजलि दे दी और स्वतत्र लेखन को ही अपने जीवन का उद्देश्य निश्चित करके साहित्य-साधना में जुट गये। इन्होने जबलपुर से 'वसुधा' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका भी निकाली जिसके प्रकाशक व सम्पादक ये स्वयं थे। वर्षो तक विषम आर्थिक परिस्थिति मे भी पत्रिका का प्रकाशन होता रहा और बाद मे बहुत घाटा हो जाने पर इसे बन्द कर देना पडा। सामयिक साहित्य के पाठक इनके लेखों को वर्तमान समय की प्रमुख हिन्दी पत्र-पत्रिकाओ मे पढ़ते हैं और परसाई जी नियमित रूप से 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्म युग', तथा अन्य पत्रिकाओ के लिए अपनी रचनाएँ लिख रहे हैं।

परसाई जी की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं :—

कहानी सग्रह—१ हँसते हैं, रोते हैं, २. जैसे उनके दिन फिरे।

उपन्यास—३. रानी नागफनी की कहानी, ४. तट की खोज।

निबन्ध संग्रह—५. तब की बात और थी, ६. भूत के पाँव पीछे, ७. बेईमानी की परत, ८ पगडंडियों का जमाना, ९. सदाचार की तावीज, १०. शिकायत मुझे भी है, ११. और अन्त में।

परसाई जी द्वारा रचित कहानी, उपन्यास तथा निबन्ध व्यक्ति और समाज की

कमजोरियों पर चोट करते हैं। समाज और व्यक्ति मे कुछ ऐसी विसंगतियाँ होती हैं जो जीवन को आडम्बरपूर्ण और दूभर बना देती हैं। इन्ही विसगतियों का पर्दाफाश परसाई जी ने किया है। कभी-कभी छोटी-छोटी बाते भी हमारे व्यक्तित्व को विघटित कर देती हैं। परसाई जी के लेख पढ़ने के बाद हमारा ध्यान इन विसंगतियों और कमजोरियों की ओर बरबस चला जाता है।

परसाई जी की शैली व्यग्य-प्रधान है। एक प्रकार से परसाई जी व्यग्य-लेखक ही हैं। आजकल व्यंग्य का नाम आते ही परसाई जी का नाम अपने-आप सफल व्यग्य-लेखको मे आ जाता है। इनके व्यग्य के विषय सामाजिक एव राजनीतिक हैं। समय की कमजोरियो पर राजनीति के फौरेबों पर करारे व्यग्य लिखने मे ये सिद्धहस्त हैं। भाषा में बोलचाल के शब्दो, तत्सम और विदेशी शब्दो का चुनाव उत्तम है। कहाँ कौन-सा शब्द अधिक चोट करेगा, कौन सा शब्द बात को अधिक अर्थवत्ता प्रदान करेगा, इसका ध्यान परसाई जी को सदा रहता है।

प्रस्तुत सग्रह मे **निन्दा रस** निबन्ध व्यग्य की दृष्टि से एक सुन्दर कलाकृति है। अनेक व्यक्ति एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या भाव से निन्दा करते रहते हैं, कुछ व्यक्ति अपने स्वभाववश अकारण ही निन्दा मे रस लेते रहते हैं, कुछ व्यक्ति अपने को बड़ा सिद्ध करने के लिए बड़ो की निन्दा मे निर्लिप्त भाव से मग्न रहते हैं, कुछ मिशनरी निन्दक होते हैं और कुछ अन्य भावो से प्रेरित होकर निन्दा-कार्य मे रत रहते है। इस निबन्ध मे परसाई जी ने निन्दको की अच्छी खबर ली है और उन पर करारी चोट की है। प्रहार तीव्र होते हुए भी पढने मे रुचिकर लगते हैं।

निन्दा रस

'क' कई महीने बाद आये थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे तूफान की तरह कमरे मे घुसे, 'साइक्लोन' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा तो मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गयी। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, "कहाँ है भीम? आ बेटा, तुझे कलेजे से लगा लूँ।" और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, तो उन्होंने प्राणघाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला।

ऐसे मौके पर हम अक्सर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं, हम अलग खड़े देखते रहते हैं। 'क' से क्या मैं गले मिला? क्या मुझे उसने समेट कर कलेजे से लगा लिया? हरगिज नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि 'क' अपनी ससुराल आया है और 'ग' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निन्दा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सवेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निःस्नेह, कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाये है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू भर नहीं आये, बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रकट हो गये—वह गहरी

आत्मीयता की जकड़, नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खण्ड दूसरे खण्ड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कम्बख्त। कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ मे कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते है। वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते है। उनके मुख से निष्प्रयास, निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार ऐसे है। वे अगर बम्बई जा रहे है और उनसे पूछे, तो वे कहेगे, 'कलकत्ता जा रहा हूँ।' ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नही सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आये? कैसे हो?—वगैरह के बाद उसने 'ग' की निन्दा आरम्भ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब 'ग' पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खीची कि मै यह सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी 'ग' के सामने इसने कल शाम को खीची होगी।

सुबह की बातचीत में 'ग' प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छः वाक्यों मे धराशायी करके वह बढ़ लेता।

अद्भुत है मेरा यह मित्र। उसके पास दोषों का 'केटलाग' है। मैंने सोचा कि जब वह हर परिचित की निन्दा कर रहा है, तो क्यो न मैं लगे हाथ विरोधियों की गत, इसके हाथों करा लूँ। मै अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हे निन्दा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मजदूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है, वैसे ही

मैंने विरोधियों के नाम एक-एक कर खिसकाये और वह उन्हें काटता गया। कैसा आनन्द था। दुश्मनों को रण-क्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन मे गत रात्रि के उस निन्दक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गये। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते है। निन्दा का ऐसा ही भेद-नाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह विदा हुआ, तो हम लोगों के मन मे बड़ी शांति और तुष्टि थी।

निन्दा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निन्दकों को एक जगह बैठकर निन्दा मे निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से जो रामधुन लगा रहे हैं। निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों मे दुर्लभ है। इसलिए संतों ने निन्दकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ 'मिशनरी' निन्दक मैंने देखे है। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नही सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निन्दा कर्म मे बहुत पवित्र भाव से लगे रहते है। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनन्द से उछालते हैं, जिस आनन्द से अन्य लोग दुश्मन की। निन्दा इनके लिए 'टानिक' होती है।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने मे निन्दकों के संघ बन गये हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ से खबरे लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते है। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनायेगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुफ्त बाँटने के लिए दे देगा। यह फुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, "यार आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-भरा कहते हैं।" हमने कहा, 'आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं

कहता । लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे मे इस तरह का कचरा मजे मे डाला जा सकता है।

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा भी होती है। लेकिन इसमे वह मजा नही जो मिशनरी भाव से निन्दा करने में आता है। इस प्रकार का निन्दक बड़ा दुखी होता है। ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निन्दा का जल छिडककर कुछ शाति अनुभव करता है। ऐसा निन्दक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा करने वाले को कोई दण्ड देने की जरूरत नहीं है। वह निन्दक बेचारा स्वयं दण्डित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दंड चाहिए ? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे, एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्याग्रस्त निन्दक को कष्ट होगा। अव अगर एक और अच्छी लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जायगा।

निन्दा का उद्‌गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दवता है। वह दूसरों की निन्दा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बडी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निन्दा की प्रवृत्ति बढती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है। इन्द्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग मे देवताओं को बिना उगाया अन्न, बे बनाया महल और बिन बोये फल मिलते हैं। अकर्मण्यता मे उन्हे अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हे ईर्ष्या होती है।

निन्दा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की प्रतिष्ठा ही दूसरों की कलंक-कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रस-विभोर होकर वे

जिस-तिस की सत्य-कल्पित कलंक-कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, "बड़ा खराब जमाना आ गया। तुमने सुना ? फलाँ—और अमुक—।" अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की उन्हें फुरसत नही होती। एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निन्दा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का, दगाबाज आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया ? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गयी।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निन्दा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मैं स्वयं निन्दा के 'काला सागर' में डूबता-उतराता था, कल्लोल कर रहा था। बड़ा रस है न निन्दा में। सूरदास ने इसलिए 'निन्दा सवद रसाल' कहा है।

—हरिशंकर परसाई

प्रश्न-अभ्यास

१ धृतराष्ट्र का उल्लेख लेखक ने क्यों किया है ?
२ लेखक ने अपने निन्दक मित्र की किन आदतों पर व्यंग्य किया हैं ?
३. निन्दा का उद्‌गम कब होता है ?
४. इस निवन्ध मे निन्दकों के कितने प्रकार वताये गये हैं ?
५ निन्दा की प्रवृत्ति से वचने के क्या उपाय हो सकते हैं ?
६ "भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाये है। छल का धृतराष्ट्र जव आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे वढ़ाना चाहिए।" स्पष्ट कीजिए।
७ निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए—
 (क) 'अद्‌भुत है मेरा यह मित्र ! उसके पास दोपों का 'केटलाग' है।'
 (ख) 'कुछ लोग वड़े निर्दोप मिथ्यावादी होते हैं।'
 (ग) 'निन्दा का ऐसा ही भेदनाशक अँधेरा होता है।'
 (घ) 'कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेप और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है।'
 (ङ) 'इसलिए सन्तों ने निन्दको को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।'
८ इस निवध में से पाँच ऐसे कथनों को चुनिए जिन्हे व्यग्य-कथन कहा जा सके। स्पष्ट कीजिए कि ये कथन आपको क्यो अच्छे लगते है और इनमें कौन-सा व्यग्य निहित है ?
९ अपने किसी साथी पर आप व्यग्य-प्रधान शैली मे दस वाक्य लिखिए।
१० प्रस्तुत निवध का आशय अपने शब्दो मे स्पष्ट कीजिए।

———

मोहन राकेश (सन् १९२५-७२)

मोहन राकेश आधुनिक नाटक साहित्य को नयी दिशा की ओर मोड़ने वाले प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार के रूप मे विख्यात हैं। इन्होंने हिन्दी गद्य-साहित्य को आधुनिक परिवेश के साथ सम्पृक्त करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

इनका जन्म ८ जनवरी १९२५ मे अमृतसर मे हुआ था। इनके पिता श्री करमचन्द गुगलाली पेशे से वकील होते हुए भी साहित्य और संगीत मे विशेष रुचि रखने वाले एक सहृदय व्यक्ति थे। इन्होंने लाहौर के ओरियंटल कालेज से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद संस्कृत और हिन्दी दोनों से एम० ए० किया था।

शिक्षा समाप्ति के बाद इन्होंने जीविका के लिए अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। बम्बई, शिमला, जालन्धर और दिल्ली (विश्वविद्यालय) मे अध्यापन-कार्य करने के बाद इन्होंने अनुभव किया कि अध्यापन का पेशा इनकी प्रवृत्ति के अनुकूल नही है। सन् १९६२-६३ मे इन्होने सारिका (हिन्दी की प्रसिद्ध कहानी पत्रिका) के संपादन का दायित्व सँभाला किन्तु कार्यालय की यात्रिक कार्य-पद्धति से ऊबकर इन्होने यह कार्य भी छोड़ दिया। सन् १९६३ से ७२ तक (जीवन के अत तक) स्वतत्र लेखन ही इनकी जीविका का आधार रहा। 'नाटक की भाषा' पर कार्य करने के लिए इनको नेहरू फेलोशिप भी प्रदान की गयी थी किन्तु असामयिक निधन के कारण यह कार्य पूरा न हो सका। इसलिए आर्थिक दृष्टि से ये बराबर अभाव की ही जिन्दगी व्यतीत करते रहे।

मोहन राकेश एक उत्कृष्ट नाटककार के रूप मे विख्यात है किन्तु इन्होने उपन्यास, कहानी, निवन्ध, यात्रावृत्त और आत्मकथा (स्फुट मार्मिक आत्म-प्रसगों के लेखन मे) जैसी गद्य-विधाओं को भी न केवल समृद्ध किया है वरन् इन्हे आधुनिक जीवन-बोध से मडित किया है। इनकी रचनाएँ निम्नांकित हैं :—

नाटक—१. आषाढ़ का एक दिन, २. लहरों के राजहंस, ३. आधे अधूरे, ४. अंडे के छिलके : अन्य एकांकी तथा बीज नाटक, ५. दूध और दाँत

(एकाकी, अप्रकाशित), ६. मृच्छकटिक तथा शाकुन्तल के हिन्दी नाट्य रूपान्तर (अप्रकाशित)।

उपन्यास—१. अँधेरे बन्द कमरे, २ न आने वाला कल, ३. अन्तराल, ४. नीली रोशनी की बाहें (अप्रकाशित)।

कहानियाँ—१. क्वार्टर, २. पहचान, ३. वारिस।

तीन सग्रह मे कुल ५४ कहानियाँ

निवन्ध सग्रह—१. परिवेश, २. बकलमखुद।

यात्रा विवरण—आखिरी चट्टान तक।

जीवन संकलन—समय सारथी।

मोहन राकेश के समग्र रचना-संसार मे उनके व्यक्तित्व की छाप है। सौन्दर्य के प्रति एक अनवूझ भूख और आधुनिक मानवीय सम्बन्धो की जटिलता की सूक्ष्म संवेदना इनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ उनकी सभी कृतियों मे लक्षित की जा सकती हैं। इनकी भापा मे बिम्बविधायिनी शक्ति है।

मन के गहन तनावों को व्यक्त करने मे वे पूर्णतः समर्थ हैं। प्रकृति के वाह्य सौन्दर्य को मन मे बसाकर उसे उपयुक्त शब्दो, रेखाओ और ध्वनि-बिम्बों के माध्यम से व्यक्त करने में इनको अद्भुत सफलता मिली हैं। ये एक अच्छे साहित्य चिन्तक भी थे। अपने नाटको और कहानियो की भूमिकाओं मे इन्होने जो विचार व्यक्त किये हैं वे सक्षिप्त होते हुए भी रचनाशिल्प की नवीनता को सशक्त ढग से व्यक्त करने में समर्थ हैं। प्रस्तुत गद्य-रचना इनके यात्रावृत्त—आखिरी चट्टान तक का एक अंश है। इसमें कन्याकुमारी और उसके समीपवर्ती सागर तट का भव्य सौन्दर्य अत्यन्त सजीव, मार्मिक एव कलात्मक शैली मे चित्रित है। यात्रावृत्त के अन्तर्गत वर्णित प्रकृति चित्र प्रायः गत्यात्मक होते हैं। यहाँ मोहन राकेश ने चित्र में स्थिति, गति और प्रभाव का सम्मिलित वैशिष्ट्य दिखाकर अद्भुत विवरण-शिल्प का परिचय दिया है।

प्रस्तुत यात्रावृत्त में अरब सागर, वंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर के मिलन विन्दु पर हिन्द महासागर के भीतर दूर तक प्रविष्ट कन्याकुमारी की आखिरी चट्टान, उसके पीछे स्थित कन्याकुमारी का मन्दिर, पश्चिमी तट रेखा पर स्थित सैण्डहिल, सैण्डहिलों के पीछे पश्चिम क्षितिज पर डूबता हुआ सूर्य, नीचे सागर का अनन्त विस्तार, सागर तट पर उगे हुए नारियल वृक्षो के झुरमुट, पश्चिमी तट के साथ लगी हुई सूखी पहाडियो की श्रृखला, सागर-तट की अनेक

रंगो वाली रेत, और तट को छूने के लिए मचलती हुई सागर की लहरों का अत्यन्त मोहक चित्र अंकित किया गया है। लेखक प्रकृति के इस बिखरे हुए सौन्दर्य को समेट लेना चाहता है और अपने को असमर्थ अनुभव कर उदास हो जाता है। गहराती हुई सन्ध्या के साथ उसे ज्वार मे डूबने के खतरे का एहसास होता है किन्तु सहसा एक समीपवर्ती चट्टान पर चढकर वह ऊपर सड़क पर जाने का रास्ता पा लेता है और उसके मन का सारा भय दूर हो जाता है। उसे मदिर मे बजती हुई पूजा की घंटियो का रव सुनायी पड़ता है और वह लौटने की बात सोचने लगता है।

———

आखिरी चट्टान

कन्या-कुमारी। सुनहले सूर्योदय और सूर्यास्त की भूमि।

केप होटल के आगे बने बाथ टैंक के बायीं तरफ, समुद्र के अन्दर से उभरी स्याह चट्टानों मे से एक पर खडा होकर मै देर तक भारत के स्थल-भाग की आखिरी चट्टान को देखता रहा। पृष्ठभूमि मे कन्या-कुमारी के मन्दिर की लाल ओर सफेद लकीरे चमक रही थीं। अरब सागर, हिन्द महासागर और बंगाल की खाडी—इन तीनों के संगम-स्थल-सी वह चट्टान, जिस पर कभी स्वामी विवेकानन्द ने समाधि लगायी थी, हर तरफ से पानी की मार सहती हुई स्वयं भी समाधिस्थ-सी लग रही थी। हिन्द महासागर की ऊँची-ऊँची लहरे मेरे आस-पास की स्याह चट्टानों से टकरा रही थी। बलखाती लहरें रास्ते की नुकीली चट्टानों से कटती हुई आती थी जिससे उनके ऊपर चूरा बूँदों की जालियाँ बन जाती थी। मै देख रहा था और अपनी पूरी चेतना से महसूस कर रहा था—शक्ति का विस्तार, विस्तार की शक्ति। तीनों तरफ से क्षितिज तक पानी-ही-पानी था, फिर भी सामने का क्षितिज, हिन्द महासागर का, अपेक्षया अधिक दूर और अधिक गहरा जान पडता था। लगता था कि उस ओर दूसरा छोर है ही नहीं। तीनों ओर के क्षितिज को आँखों मे समेटता मैं कुछ देर भूला रहा कि मै मै हूँ, एक जीवित व्यक्ति, दूर से आया यात्री, एक दर्शक। उस दृश्य के बीच मै जैसे दृश्य का एक हिस्सा बन कर खडा रहा—बड़ी-बडी चट्टानो के बीच एक छोटी-सी चट्टान। जब अपना होश हुआ, तो देखा कि मेरी चट्टान भी तब तक बढते पानी में काफी घिर गयी है।

मेरा पूरा शरीर सिहर गया। मैंने एक नजर फिर सामने के उमड़ते विस्तार पर डाली और पास की एक सुरक्षित चट्टान पर कूद कर दूसरी चट्टानों पर से होता हुआ किनारे पर पहुँच गया।

पच्छिमी क्षितिज में सूर्य धीरे-धीरे नीचे जा रहा था। मैं सूर्यास्त की दिशा में चलने लगा। दूर पच्छिमी तट-रेखा के एक मोड़ के पीली रेत का एक ऊँचा टीला नजर आ रहा था। सोचा उस टीले पर जाकर सूर्यास्त देखूँगा।

यात्रियों की कितनी ही टोलियाँ उस दिशा में जा रही थीं। मेरे आगे कुछ मिशनरी युवतियाँ मोक्ष की समस्या पर विचार करती चल रही थीं। मै उनके पीछे-पीछे चलने लगा——चुपके से मोक्ष का कुछ रहस्य पा लेने के लिए। यूँ उनकी बातों से कही रहस्यमय आकर्षण उनके युवा शरीरों में था और पीली रेत की पृष्ठभूमि में उनके लबादों के हिलते हुए स्याह-सफ़ेद रंग बहुत आकर्षक लग रहे थे। मोक्ष का रहस्य अभी बीच में ही था कि हम लोग टीले पर पहुँच गये। यह वह 'सैण्डहिल' थी जिसकी चर्चा मैं वहाँ पहुँचने के बाद से ही सुन रहा था। सैण्डहिल पर बहुत से लोग थे। आठ-दस नवयुवतियाँ, छह-सात नवयुवक और दो-तीन गाँधी टोपियों वाले व्यक्ति। वे शायद सूर्यास्त देख रहे थे। गवर्नमेन्ट गेस्ट हाउस के बैरे उन्हें सूर्यास्त के समय की काफ़ी पिला रहे थे। उन लोगों के वहाँ होने से सैण्डहिल बहुत रंगीन हो उठी थी। कन्या कुमारी का सूर्यास्त देखने के लिए उन्होंने विशेष रुचि के साथ सुन्दर रंगों का रेशम पहना था। हवा समुद्र की तरह उस रेशम में भी लहरें पैदा कर रही थी। मिशनरी युवतियाँ वहाँ आकर थकी-सी एक तरफ़ बैठ गयीं——उस पूरे कैनवस मे एक तरफ़ छिटके हुए कुछ विन्दुओं की तरह। उनसे कुछ दूर पर एक रंगहीन विन्दु, मै, ज्यादा देर अपनी जगह स्थिर नहीं रह सका। सैण्डहिल से सामने का पूरा विस्तार तो दिखायी दे रहा था, पर अरब सागर की तरफ़ एक और ऊँचा टीला था जो उधर के विस्तार को ओट में

लिये था। सूर्यास्त पूरे विस्तार की पृष्ठभूमि मे देखा जा सके, इसके लिए मैं कुछ देर सैण्डहिल पर रुका रहकर आगे उस टीले की तरफ चल दिया। पर रेत पर अपने अकेले क़दमों को घसीटता हुआ वहाँ पहुँचा, तो देखा कि उससे आगे उससे भी ऊँचा एक और टीला है। जल्दी-जल्दी चलते हुए मैंने एक के वाद एक कई टीले पार किये। टाँगे थक रही थीं, पर मन थकने को तैयार नही था। हर अगले टीले पर पहुँचने पर लगता था कि शायद अब एक ही टीला और है, उस पर पहुँच कर पच्छिमी क्षितिज का खुला विस्तार अवश्य नजर आ जायेगा। और सचमुच एक टीले पर पहुँचकर वह खुला विस्तार सामने फैला दिखायी दे गया——वहाँ से दूर तक एक रेत की लंबी ढलान थी, जैसे वह टीले से समुद्र मे उतरने का रास्ता हो। सूर्य तब पानी से थोड़ा ही ऊपर था। अपने प्रयत्न की सार्थकता से सन्तुप्ट होकर मै टीले पर वैठ गया——ऐसे जैसे वह टीला संसार की सबसे ऊँची चोटी हो, और मैंने, सिर्फ़ मैंने, उस चोटी को पहली बार सर किया हो।

पीछे दायी तरफ दूर-दूर हटकर उसे नारियलो के झुरमुट नजर आ रहे थे। गूँजती हुई तेज हवा से उनकी टहनियाँ ऊपर को उठ रही थीं। पच्छिमी तट के साथ-साथ, सूखी पहाड़ियों की एक श्रृंखला दूर तक चली गयी थी जो सामने फैली रेत के कारण बहुत रूखी, बीहड़ और वीरान लग रही थी। सूर्य पानी की सतह के पास पहुँच गया था। सुनहली किरणों ने पीली रेत को एक नया-सा रंग दे दिया था। उस रंग मे रेत इस तरह चमक रही थी जैसे अभी-अभी उसका निर्माण करके उसे वहाँ उँड़ेला गया हो। मैंने उस रेत पर दूर तक बने अपने पैरों के निशानों को देखा। लगा जैसे रेत का कुँवारापन पहली बार उन निशानों से टूटा हो। इससे मन मे एक सिहरन भी हुई, हलकी उदासी भी घिर आयी।

सूर्य का गोला पानी की सतह से छू गया। पानी पर दूर तक सोना-ही-सोना ढुल आया। पर वह रंग इतनी जल्दी-जल्दी वदल रहा था

कि किसी भी एक क्षण के लिए उसे एक नाम दे सकना असम्भव था। सूर्य का गोला जैसे एक बेबसी मे पानी के लावे में डूबता जा रहा था। धीरे-धीरे वह पूरा डूब गया और कुछ क्षण पहले जहाँ सोना बह रहा था, वहाँ अब लहू बहता नजर आने लगा। कुछ और क्षण बीतने पर वह लहू भी धीरे-धीरे बैजनी और बैजनी से काला पड़ गया। मैने फिर एक बार मुड़ कर दायी तरफ पीछे देख लिया। नारियलों की टहनियाँ उसी तरह हवा मे ऊपर उठी थी, हवा उसी तरह गूँज रही थी, पर पूरे दृश्यपट पर स्याही फैल गयी थी। एक दूसरे से दूर खड़े झुरमुट, स्याह पड़कर, जैसे लगातार सिर धुन रहे थे और हाथ-पैर पटक रहे थे। मै अपनी जगह से उठ खड़ा हुआ और अपनी मुट्ठियाँ भींचता-खोलता कभी उस तरफ और कभी समुद्र की तरफ देखता रहा।

अचानक खयाल आया कि मुझे वहाँ से लौटकर भी जाना है। इस खयाल से ही शरीर मे कँपकँपी भर गयी। दूर सैण्डहिल की तरफ़ देखा। वहाँ स्याही मे डूबे कुछ धुँधले रंग हिलते नज़र आ रहे थे। मैंने रंगों को पहचानने की कोशिश की, पर उतनी दूर से आकृतियों को अलग-अलग कर सकना सम्भव नहीं था। मेरे और उन रंगों के बीच स्याह पड़ती रेत के कितने ही टीले थे। मन में डर समाने लगा कि क्या अँधेरा होने से पहले मैं उन सब टीलों को पार करके जा सकूँगा? कुछ क़दम उस तरफ़ बढा भी। पर लगा कि नहीं। उस रास्ते से जाऊँगा, तो शायद रेत मे ही भटकता रह जाऊँगा। इसलिए सोचा बेहतर है नीचे समुद्र-तट पर उतर जाऊँ—तट का रास्ता निश्चित रूप से केप होटल के सामने तक ले जायेगा। निर्णय तुरन्त करना था, इसलिए बिना और सोचे मै रेत पर बैठ कर नीचे तट की तरफ फिसल गया। पर तट पर पहुँच कर फिर कुछ क्षण बढते अँधेरे की बात भूला रहा। कारण था तट की रेत। यूँ पहले भी समुद्र-तट पर कई-कई रंगों की रेत देखी थी—सुरमई, खाकी, पीली और लाल। मगर जैसे रंग उस रेत मे थे, वैसे मैंने पहले कभी कहीं की रेत में नही देखे थे।

कितने ही अनाम रंग थे वे, एक-एक इंच पर एक दूसरे से अलग... और एक-एक रंग कई-कई रंगों की झलक लिये हुए। काली घटा और घनी लाल आँधी को मिलाकर रेत के आकार मे ढाल देने से रंगों के जितनी तरह के अलग-अलग सम्मिश्रण पाये जा सकते थे, वे सब वहाँ थे—और उनके अतिरिक्त भी बहुत-से रंग थे। मैंने कई अलग-अलग रंगों की रेत को हाथ मे लेकर देखा और मसल कर नीचे गिर जाने दिया। जिन रंगों को हाथों से नही छू सका, उन्हें पैरों से मसल दिया। मन था कि किसी तरह हर रंग की थोड़ी-थोडी रेत अपने पास रख लूँ। पर उसका कोई उपाय नही था। यह सोच कर कि फिर किसी दिन आकर उस रेत को बटोरूँगा, मै उदास मन से वहाँ से आगे चल दिया।

समुद्र मे पानी बढ रहा था। तट की चौडाई धीरे-धीरे कम होती जा रही थी। एक लहर मेरे पैरों को भिगो गयी, तो सहसा मुझे खतरे का एहसास हुआ। मै जल्दी-जल्दी चलने लगा। तट का सिर्फ तीन-तीन चार-चार फुट हिस्सा पानी से बाहर था। लग रहा था कि जल्दी ही पानी उसे भी अपने अन्दर समा लेगा। एक वार सोचा कि खड़ी रेत से होकर फिर ऊपर चला जाऊँ। पर वह स्याह पड़ती रेत इस तरह दीवार की तरह उठी थी कि उस रास्ते ऊपर जाने की कोशिश करना ही बेकार था। मेरे मन में खतरा वढ गया। मै दौड़ने लगा। दो-एक और लहरे पैरों के नीचे तक आकर लौट गयी। मैंने जूता उतार कर हाथ मे ले लिया। एक ऊँची लहर से बच कर इस तरह दौड़ा जैसे सचमुच वह मुझे अपनी लपेट मे लेने आ रही हो। सामने एक ऊँची चट्टान थी। वक़्त पर अपने को सँभालने की कोशिश की, फिर भी उससे टकरा गया। बाँहो पर हलकी खरोंच आ गयी, पर ज़्यादा चोट नही लगी। चट्टान पानी के अन्दर तक चली गयी थी—उसे बचाकर आगे जाने के लिए पानी मे उतरना आवश्यक था। पर उस समय पानी की तरफ़ पाँव बढाने का मेरा साहस नही हुआ।

मैं चट्टान की नोकों पर पैर रखता किसी तरह उसके ऊपर पहुँच गया। सोचा नीचे खड़े रहने की अपेक्षा वह अधिक सुरक्षित होगा। पर ऊपर पहुँच कर लगा जैसे मेरे साथ एक मजाक़ किया गया हो। चट्टान के उस तरफ़ तट का खुला फैलाव था—लगभग सौ फ़ुट का। कितने ही लोग वहाँ टहल रहे थे। ऊपर सड़क पर जाने के लिए वहाँ से रास्ता भी बना था। मन से डर निकल जाने से मुझे अपने-आप काफ़ी हलका लगा और मैं चट्टान से नीचे कूद गया।

रात। केप होटल का लॉन। अँधेरे में हिन्द महासागर को काटती हुई कुछ स्याह लकीरें—एक पौधे की टहनियाँ। नीचे सड़क पर टार्च जलाता-बुझाता एक आदमी। दक्षिण-पूर्व के क्षितिज में एक जहाज की मद्धिम-सी रोशनी।

मन बहुत बेचैन था—बिना पूरी तरह भीगे सूखती मिट्टी की तरह। जगह मुझे इतनी अच्छी लगी थी कि मन था अभी कई दिन, कई सप्ताह, वहाँ रहूँ। पर अपने भुलक्कड़पन की वजह से एक ऐसी हिमाक़त कर आया था कि लग रहा था वहाँ से तुरन्त लौट जाना पड़ेगा। अपना सूटकेस खोलने पर पता चला था कि कनानोर में सत्रह दिन रह कर जो अस्सी-नब्बे पन्ने लिखे थे, वे वही मेज की दराज में छोड़ आया हूँ। अब मुझे दो में से एक चुनना था। एक तरफ़ था कन्या कुमारी का सूर्यास्त, समुद्रतट और वहाँ की रेत। दूसरी तरफ़ अपने हाथ के लिखे काग़ज जो शायद अब भी सेवाय होटल की एक दराज में बन्द थे। मैं देर तक बैठा सामने देखता रहा—जैसे कि पौधे की टहनियों या उनके हाशिये में बन्द महासागर के पानी से मुझे अपनी समस्या का हल मिल सकता है।

कुछ देर मे एक गीत का स्वर सुनायी देने लगा जो धीरे-धीरे पास आता गया। एक कान्वेन्ट की बस होटल के कम्पाउण्ड में आकर रुक गयी। बस मे बैठी लड़कियाँ अंग्रेजी में एक गीत गा रही थीं जिसमे समुद्र के सितारे को सम्बोधित किया गया था। उस गीत को

सुनते हुए और दूर जहाज की रोशनी के ऊपर एक चमकते सितारे को देखते हुए मन और उदास होने लगा। गहरी साँझ के सुरमई रंग में रँगी वह आवाज मन की गहराई में किसी कोमल रोयें को हलके-हलके सहला रही थी। लग रहा था कि उस रोयें की जिद शायद मुझे वहाँ से जाने नहीं देगी। लेकिन उससे भी जिद्दी एक और रोयाँ था ——दिमाग के किसी कोने में अटका——जो सुबह वहाँ से जाने वाली बसों का टाइम टेबिल मुझे बता रहा था। गीत के स्वरों की प्रतिक्रिया के साथ टाइम-टेबल के हिन्दसे जुड़ते जा रहे थे——पहली बस सात पन्द्रह, दूसरी आठ पैंतिस, तीसरी……। थोड़ी देर मे बस लौट गयी, गीत के स्वर विलीन हो गये और मन में केवल हिंदसों की चर्खी चलती रह गयी।

सूर्योदय। हम आठ आदमी 'विवेकानन्द चट्टान' पर बैठे थे। चट्टान तट से सौ-सवा-सौ गज आगे समुद्र के बीच जाकर है——वहाँ जहाँ बंगाल की खाड़ी की भौगोलिक सीमा समाप्त होती है। मेरे अलावा तीन कन्याकुमारी के बेकार नवयुवक थे जिनमे से एक ग्रेजुएट था। चार मल्लाह थे जो एक छोटी-सी मछुआ नाव मे हमें वहाँ लाये थे। नाव क्या थी, रबड़-पेड़ के तीन तनों को साथ जोड़ लिया गया था, बस। नीचे की नुकीली चट्टानों और ऊपर की ऊँची-ऊँची लहरों से बचाते हुए मल्लाह नाव को उस तरफ़ ला रहे थे, तो मैंने आसमान की तरफ़ देखते हुए उतनी देर अपनी चेतना को स्थगित रखने की चेष्टा की थी, अपने अन्दर के डर को दिखावटी उदासीनता से ढक रखना चाहा था। पर जब चट्टान पर पहुँच गये, तो डर मेरी टाँगों में उतर गया क्योंकि वहाँ बैठे हुए भी वे हलके-हलके काँप रही थी।

ग्रेजुएट नवयुवक मुझे बता रहा था कि कन्या-कुमारी की आठ हजार की आबादी में कम से कम चार-पाँच सौ शिक्षित नवयुवक ऐसे हैं जो बेकार हैं। उनमें से सौ के लगभग ग्रेजुएट है। उनका मुख्य धन्धा है नौकरियों के लिए अर्जियाँ देना और बैठ कर आपस मे बहस करना।

वह खुद वहाँ फ़ोटो-एल्बम बेचता था। दूसरे नवयुवक भी उसी तरह के छोटे-मोटे काम करते थे। "हम लोग सीपियों का गूदा खाते हैं और दार्शनिक सिद्धान्तों पर बहस करते हैं," वह कह रहा था। "इस चट्टान से इतनी प्रेरणा तो हमें मिलती ही है।" मुझे दिखाने के लिए उसने वही स एक सीपी लेकर उसे तोड़ा और उसका गूदा मुँह में डाल लिया।

पानी और आकाश मे तरह-तरह के रंग झिलमिलाकर, छोटे-छोटे द्वीपों की तरह समुद्र में बिखरी स्याह चट्टानों की चोट से सूर्य उदित हो रहा था। घाट पर बहुत से लोग उगते सूर्य को अर्घ्य देने के लिए एकत्रित थे। घाट से थोड़ा हटकर गवर्नमेन्ट गेस्ट हाउस के बैरे सरकारी मेहमानों को सूर्योदय के समय की काफ़ी पिला रहे थे। दो स्थानीय नवयुवतियाँ उन्हें अपनी टोकरियों से शंख और मालाएँ दिखला रही थी। वे लोग दोनों काम साथ-साथ कर रहे थे—मालाओं का मोल-तोल और अपने बाइनाक्युलर्ज से सूर्य-दर्शन। मेरा साथी अब मुहल्ले-मुहल्ले के हिसाब से मुझे बेकारी के आँकड़े बता रहा था। बहुत-से कडल-काक हमारे आस-पास तैर रहे थे—वहाँ की बेकारी की समस्या और सूर्योदय की विशेषता, इन दोनों से बे-लाग।

मेरे साथियों का कहना था कि लौटते हुए नाव को घाट की तरफ़ से घुमाकर लायेंगे, हालाँकि मल्लाह उस तूफ़ान में उधर जाने के हक मे नही थे। बहुत कहने पर मल्लाह किसी तरह राजी हो गये और नाव को घाट की तरफ़ ले चले। नाव विवेकानन्द चट्टान के ऊपर से घूम-कर लहरों के थपेड़े खाती उस तरफ़ बढ़ने लगी। वह रास्ता सचमुच बहुत खतरनाक था—जिस रास्ते से हम आये थे, उससे कही ज्यादा। नाव इस तरह लहरों के ऊपर उठ जाती थी कि लगता था नीचे आने तक जरूर उलट जायेगी। फिर भी हम घाट के बहुत क़रीब पहुँच गये। ग्रेजुएट नवयुवक घाट से आगे की चट्टान की तरफ़ इशारा

करके कह रहा था, "यहाँ आत्महत्याएँ बहुत होती है।"

मैने सरसरी तौर पर आश्चर्य प्रकट कर दिया। मेरा ध्यान उसकी बात में नही था। मै आँखों से तय करने की कोशिश कर रहा था कि घाट और नाव के बीच अब कितना फासला बाकी है।

एक लहर ने नाव को इस तरह धकेल दिया कि मुश्किल से वह उलटते-उलटते बची। आगे तीन-चार चट्टानों के बीच एक भँवर पड़ रहा था। नाव अचानक एक तरफ से भँवर मे दाखिल हुई और दूसरी तरफ़ से निकल आयी। इससे पहले कि मल्लाह उसे सँभाल पाते, वह फिर उसी तरह भँवर मे दाखिल होकर घूम गयी। मुझे कुछ क्षणों के लिए भँवर और उससे घूमती नाव के सिवा किसी चीज की चेतना नही रही। चेतना हुई जब भँवर मे तीन-चार चक्कर खा लेने के बाद नाव किसी तरह उससे बाहर निकल आयी। यह अपने आप या मल्लाहों की कोशिश से, मै नही कह सकता।

पर तब तक मैंने उस चट्टान की तरफ़ ध्यान से नही देखा जब तक किनारे के बहुत पास नही पहुँच गये। यह भी वहाँ पहुँच कर जाना कि घाट की तरफ से आने का इरादा छोड़कर मल्लाह उसी रास्ते से नाव को वापस लाये है जिस रास्ते से पहले ले गये थे।

* * *

कन्याकुमारी के मन्दिर में पूजा की घंटियाँ बज रही थी। भक्तों की एक मण्डली अन्दर जाने से पहले मन्दिर की दीवार के पास रुककर उसे प्रणाम कर रही थी। सरकारी मेहमान गेस्ट हाउस की तरफ़ लौट रहे थे। हमारी नाव और किनारे के बीच हलकी धूप मे कई एक नावों के पाल और कउल-काकों के पंख एक से चमक रहे थे। मैं मन मे बसों का टाइम-टेबल दोहरा रहा था तीसरी बस नौ चालिस पर, चौथी....।

—मोहन राकेश

प्रश्न-अभ्यास

१. भारतीय राष्ट्रीय जीवन में कन्याकुमारी का क्या महत्त्व है ? संक्षेप में उत्तर दीजिए।

२. कन्याकुमारी के प्राकृतिक सौन्दर्य की कुछ विशेषताएँ बताइए।

३ हिन्दी मे अंग्रेजी शब्दों को ग्रहण करना कहाँ तक उचित है ? प्रस्तुत पाठ मे आये हुए अंग्रेजी शब्दों के प्रयोग का औचित्य स्पष्ट कीजिए।

४. 'यात्रावृत्त' से आप क्या समझते है ? इसे स्वतंत्र गद्य-विधा मानना कहाँ तक उचित है ?

५. निम्नलिखित अवतरणों की व्याख्या कीजिए—

(क) 'सूर्य का गोला····असम्भव था।'

(ख) 'एक दूसरे···देखता रहा।'

६. समुद्र की किस वस्तु ने लेखक को सबसे अधिक आकृष्ट किया था और क्यों ?

७. समुद्र की बढती हुई लहरों से लेखक क्यों चिन्तित हो गया था ?

८. मोहन राकेश की गद्य-शैली की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख कीजिए।

———

विद्यानिवास मिश्र (सन् १९२६)

डॉ० विद्यानिवास मिश्र का जन्म गोरखपुर जिले के पकड़डीहा गाँव में १४ जनवरी सन् १९२६ को हुआ था। प्रारभिक एव माध्यमिक शिक्षा गोरखपुर मे प्राप्त करके इन्होने इलाहाबाद मे उच्च अध्ययन किया और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सस्कृत मे एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। **पाणिनीय व्याकरण की विश्लेषण पद्धति** नामक शोध-प्रबन्ध पर गोरखपुर विश्वविद्यालय ने इनको पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। लगभग दस वर्षो तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, रेडियो, विन्ध्य प्रदेश एव उत्तर प्रदेश के सूचना विभागो मे नौकरी करने के वाद वे गोरखपुर विश्वविद्यालय मे प्राध्यापक हुए और थोड़े दिनों वाद अमरीका चले गये और वहाँ कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय मे हिन्दी-साहित्य एव तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का तथा वाशिंगटन विश्वविद्यालय, मे हिन्दी साहित्य का अध्यापन किया। इस समय वे वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के 'भाषा विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विभाग' के आचार्य एवं अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं।

मिश्रजी संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् तो हैं ही, हिन्दी साहित्य के समर्थ लेखक भी हैं। हिन्दी के वर्तमान ललित निवन्धकारो में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपने हिन्दी के ललित निवन्धो को नवीन सास्कृतिक भावभूमि प्रदान की है। सस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी एव भाषा-विज्ञान का उच्च स्तरीय ज्ञान पुष्ट बनकर इनका सस्कार बन गया हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आप भी सस्कृत साहित्य को वर्तमान जीवन के परिवेश मे देखते है और अपने निवन्धो को ज्ञान की उष्मा से झुलसाने की अपेक्षा सास्कृतिक तरलता से सरस बना देते हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित है :—

ललित निवध सग्रह—१. छितवन की छाँहें, २ कदम की फूली डाल, ३ तुम चंदन हम पानी, ४. आँगन का पंछी और बनजारा मन, ५. मैंने सिल पहुँचाई, ६. वसन्त आ गया पर कोई उत्कण्ठा नहीं, ७. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है।

आलोचना—८. साहित्य की चेतना ।

अन्य—९ हिन्दी की शब्दसम्पदा, १०. पाणिनीय व्याकरण की विश्लेपण पद्धति, ११. रीति विज्ञान ।

मिश्रजी के निवन्ध व्यक्तिपरक है। इनके निवन्धो मे लोकजीवन एव ग्रामीण समाज मुखरित हो उठा हैं। प्राचीन भारतीय सारस्वत परम्परा का निर्वाह करते हुए मिश्रजी अपने निबन्धो के पाठको को भोजपुरी लोकसाहित्य की सरसता का पान भी करा देते है। किसी भी प्रसग को लेकर वे उसे ऐतिहासिक, पौराणिक या साहिरियक सदर्भ से युक्त कर देतें हैं, और फिर उसे लोक-जीवन से सम्दद्ध कर देते हैं। इस प्रकार इनके निवन्धो मे शास्त्रज्ञान एवं लोक-जीवन का मणिकांचन सयोग विद्यमान है।

भाषा की दृप्टि से इनके निबन्धों मे खड़ीवोली के शब्दो के साथ-साथ कही-कही भोजपुरी के ग्रामीण शब्द भी आ गये है। तत्सम शब्दो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग करते हुए वे यत्र-तत्र बोलियो के भी शब्द प्रयुक्त कर देते है। किन्तु यह सब कार्य वे भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने के लिए ही करते दिखायी पड़ते हैं। भाषा की ताजगी उनके निवन्धों मे सर्वत्र विद्यमान है।

इनको कवि-हृदय मिला हुआ है अत शैली मे भावात्मकता एवं सरसता स्वाभाविक ही है। ललित निबन्ध की शैली में वे सिद्धहस्त है। शैली मे काव्य के गुण विद्यमान हैं और निबन्धो को पढ़ने मे आनन्द आता है। इनकी शैली मे कही-कही व्यंग्य का तीखापन भी विद्यमान हैं।

प्रस्तुत निबन्ध मे हिमालय के सम्बन्ध मे पौराणिक कथा का रहस्य बताते हुए लेखक ने स्पष्ट कहा है कि हिमालय का गौरव नगाधिराज होने के कारण नही वरन् गगा जैसी नदियो को जन्म देने के कारण हैं। हिमालय भारत का कुलगुरु हैं। इस निवन्ध मे लेखक ने पाठको को प्रेरणा दी है कि हम उन आदर्शों को अपना कर बड़े वने जिन आदर्शो का देवता हिमालय हैं। निवन्ध में प्रसाद गुण के साथ-साथ ओज की छटा भी विद्यमान है।

हिमालय

हिमालय कहने से भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा का ही केवल स्मरण नहीं होता भारत की पवित्रता का, ऊँचाई का भी बोध होता है। वह पूर्व और पश्चिम समुद्र को गहानेवाला पृथ्वी का मानदण्ड मात्र नही है। यह है देवतात्मा। उसकी आत्मा देवता है और वह देवताओं की आत्मा है।

हिमालय इस वसुन्धरा का प्रिय वत्स है। पुराणों मे कहानी आती है कि पृथ्वी वजर होने लगी थी, प्रजा दु:ख से पीड़ित होने लगी थी, देवताओं को यज्ञ भाग मिलना कठिन होने लगा था तब पृथुराजा ने पृथ्वी को डराया-धमकाया। पृथ्वी ने कहा—मैंने अनाचार बढ़ता हुआ देखकर रत्न, औषधियाँ और हरियाली अपने भीतर छिपा ली है। मै गाय का रूप धारण करूँगी और तुम मेरे लिए उपयुक्त बछड़ा ढूँढो। मै यह सारी सामग्री दूध के रूप मे प्रस्तुत कर दूँगी। पृथु ने पर्वतों में नये पर्वत हिमालय को वछडा वनाया और हिमालय के वात्सल्य से पिन्हाकर धरती ने रस, औषधियो से और रत्नो से मटके के मटके भर दिये। सृष्टि की यह कहानी हिमालय के आविर्भाव के बाद एक नये देश और एक नयी संस्कृति के उत्थान की कहानी है। हिमालय उस संस्कृति का अग्रदूत है जो आत्मदान मे विश्वास करती है जो देव-शक्तियों को संचालित करने के लिए तप और एकनिष्ठ प्रेम में विश्वास करती है।

हिमालय का वड़प्पन केवल नगाधिराज होने के कारण नही है, ऊँची चोटियों के ऊपर पड़ने वाली प्रकाश की आभा के कारण नही है, उसका वडप्पन गंगा जैसी नदियों को जन्म देने के कारण

है। इन नदियों के माध्यम से हिमालय अपनी उदारता, शुचिता और समृद्धि मुक्तहस्त लुटा रहा है। ऋग्वेद में इसलिए स्रष्टा के महत्त्व (महिमा) से हिमालय को उद्भूत बतलाया गया है।

किन्तु विष्णु पुराण में विष्णु ने स्वयं कहा है कि मैंने पर्वतराज हिमालय की सृष्टि यज्ञ के साधन के लिए की है। हिमालय भौतिक रूप में ही नही आध्यात्मिक रूप मे भी यज्ञ की अंगभूत सामग्री प्रस्तुत करनेवाला एकमात्र स्रोत है। सोमलता जैसी औषधि तो प्रतीक मात्र है। अपने को निष्पीड़ित करके, ममता को उत्सर्ग करके एक व्यापक भारत के चक्र में अपने को स्थापित करने का यत्न ही तो यज्ञ है और हिमालय साक्षात् यज्ञ रूप है। यह इसलिए इस जगत् का प्रतिनिधि है।

हिमालय पार्थिव समृद्धि का दर्पोन्नत किरीट है, उसका मस्तक जैसा है, ललाट आभा से दीप्त है, हृदय रस से आप्यायित है और गैरिक रागों से अनुरंजित है। भुजाएँ देवदारुओं को सिहराने वाली गंगा के जलकणों से, शीतल बयार के सस्पर्श से पुलकित है, उसकी नाभि में हंसों का प्रिय मानसरोवर है, उसकी करधनी में घंटियों की तरह झरनों का कलरव है, चरणों में मृगी के उच्छल और विश्वस्त विहार करने वाले तपोवन है। उसमें देवता रहते हैं क्यों देवताओं के देवता शंकर के तप का क्षेत्र उसी का एक कोना कैलाश है, उसमे यक्ष, गन्धर्व बसते हैं, क्योंकि हिमालय की गुफाओं में निभृत विलास का सुख उन्हें प्राप्त है। इन गुफाओं के ऊपर अपने आप बादलों के परदे टँगे हुए है, गन्धर्वों के गीत को दान देने के लिए ही हिमालय की इन गुफाओं से आनेवाली बयार है, जो बाँसों के वन में शब्द भरती चली जाती है। सिद्ध और साधक दोनों को यहाँ प्रेरणा समान रूप में मिलती है। सिद्धों को प्रेरणा मिलती है नर-नारायण से जो भारतवर्ष के अधिष्ठाता के रूप मे बदरिकाश्रम मे तप कर रहे है। नर और नारायण दोनों को तप करना है, ईश्वर होकर कोई इस कर्मभूमि में कर्म से विलग नहीं

होता। ईश्वर की सार्थकता है लोकभावित होकर स्वेच्छा से कर्म करने मे। साधक के लिए प्रेरणा है पवित्र वातावरण मे, विराटता के वोध मे, शिखरों की शुभ्रता के प्रकाश में वन्य किरातों की सहज और ऋजु दृष्टि मे। हिमालय इतना उदार है कि वह अंधकार को भी शरण देता है। आज भी अंधकार की एक बहुत बड़ी शक्ति को शरण दिए हुए है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके कमल को खिलानेवाली किरणे भी ऊर्ध्वमुखी होती है। उसके सौन्दर्य और सौरभ को पाने की क्षमता उसी मे होती है जो ऊर्ध्वमुखी है और जिसके आदर्श ऊँचे है। उसके कमल केवल सप्तर्षियों के ही हाथों चुने जा सकते है।

हिमालय इस देश की जगद्धात्री शक्ति का पिता है, इसीलिए इस देश का वह कुलगुरु है। ज्ञान, योग और तप के प्रतिमान शिव को ऐश्वर्य जिस शक्ति के कारण मिलता है, वह शक्ति हिमालय की दुहिता है, पार्थिव शक्ति का ही दूसरा पर्याय है पार्वती—और उस पार्वती से अविभक्त होकर शिव इस देश के जीवन-दर्शन के साक्षात् प्रतीक बन गये हैं। यह जीवन-दर्शन केवल देवताओं के सेनानी कुमार को जन्म देता है, असुरों की शक्ति संहृत करने वाली अग्नि को न केवल जन्म देता है बल्कि समस्त विद्याओं, कलाओं और संस्कृति की विभिन्न परम्पराओं को जन्म देता है। भारतीय संस्कृति अखंड जीवन में विश्वास रखती है, उसमें निषेध नहीं है, उसमे गजाजिन भी दुकूल वन जाता है, भस्म भी चन्दन बन जाता है। हिमालय का स्मरण भारत की इस समग्र दृष्टि का स्मरण है क्योंकि यह दृष्टि हिमालय के वात्सल्य से उभरी हुई दृष्टि है।

भारतीय साहित्य में जहाँ कहीं विभिन्न गुणों के लिए उपमान ढूँढे गये है वहाँ गम्भीरता के लिए समुद्र और धैर्य के लिए हिमवान उपमान के रूप में वार-वार दोहराये गये है।

इस भक्तिविगलित भाव को जिन लोगों ने भारतवर्ष की दुर्बलता

समझा है और जिन्होंने किरातों को आश्रय देने वाले हिमालय को विजेय समझा है, वे भूल जाते है कि भारतवर्ष का शौर्य रक्त-पिपासा नही है, यह भेड़िये की भूख नही है, यह झूठमूठ वादल को गरजते देखकर शेर के गरज उठने का उत्साह भी नही है, यह उदात्त गुणों की कसौटी है, दूसरों को पराजित करने में नही। पराजित करके भी वह उसका नाश नही करता। उन्हें उखाड़कर फिर से नयी जमीन पर आरोपित करने मे विश्वास करता है, जिससे उसके फल खट्टे न होकर मीठे हों, वह शान्त और धैर्यशाली चित्र का उन्नयन है जो अपना प्रदर्शन नहीं करता, समय आने पर अत्यन्त सहज भाव से पराक्रम का परिचय देता है, वह ऐसी शक्ति है जो शिव के साथ जुडी हुई है। हिमालय मे अन्धकार ने डेरा डाला है, उसकी उज्ज्वलता पर रक्त की धाराएँ उभरी है, उसके तपोवन मे किरातों की हिंसा मदमत्त जंगली हाथी की तरह है, पर हिमालय भौगोलिक सीमामात्र नही है, यह इस देश के वैचारिक धारा का राशिभूत स्रोत है, उसे कोई पराजित नही कर सकता। जिस हिमालय ने तारकासुर से आक्रान्त देवताओं को आश्वासन दिया था वही हिमालय आज भी हमे आश्वस्त कर सकता है वशर्ते कि हम उस शक्ति को वहन करने मे समर्थ हो सके, जो कठिन संकल्प, ग्लानि के प्रखर वोध और सर्वस्व त्याग से ही पूर्णकाम हो सकती है।

हिमालय वही है, गंगा के प्रवाह से प्रक्षिप्त बहने वाली औषधियों से प्रकाशित, मणियों की सहज मालाओं से मण्डित। उसके अधर वैसे ही लाल है, उसकी वाहे देवदारु-सी लम्बी है, उसकी छाती चट्टान-सी कड़ी है।

पर हम कुछ छोटे हो गये हैं। अपने आदर्शों के नारे लगाते-लगाते हम उनके अयोग्य हो गये है। हिमालय उन आदर्शों का देवता है, उसको अपने जीवन मे जगाकर ही हम पराजय की ग्लानि को धो सकेंगे।

—विद्यानिवास मिश्र

प्रश्न-अभ्यास

१. पुराणों में हिमालय के आविर्भाव के विषय मे कौन सी कहानी दी गयी है ?

२. 'हिमालय उस सस्कृति का अग्रदूत है, जो आत्मदान में विश्वास करती है।' इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं ? भारतीय सस्कृति की अन्य विशेपताओ को बताइए।

३. हिमालय की विशेषताओ का वर्णन अपने शब्दो में कीजिए।

४. हिमालय के लिए लेखक ने जिन विशेषणो का प्रयोग किया है उनको चुनिए और उनके अर्थों एव महत्त्व को स्पष्ट कीजिए।

५ 'सिद्ध' और 'साधक' दोनो को समान रूप से प्रेरणा देने मे हिमालय किस प्रकार समर्थ है ?

६. लेखक ने भारत की किन-किन विशेषताओ की ओर सकेत किया है ? दस वाक्यो में उन विशेषताओ को लिखिए।

७. भारतीय सस्कृति में कितने पुराणों की महत्ता बतायी गयी है। प्रत्येक पुराण के सम्वन्ध मे जानकारी प्राप्त कीजिए तथा मुख्य-मुख्य पुराणो की महत्ता के सम्बन्ध मे पाँच-पाँच वाक्य लिखिए।

८. प्रत्येक पर परिचयात्मक टिप्पणियाँ लिखिए :—
राजा पृथु, सोमलता, कैलाश, गन्धर्व, सिद्ध, मानसरोवर।

९. व्याख्या कीजिए —
(१) 'वह पूर्व और पश्चिम समुद्र को गहानेवाला पृथ्वी का मानदण्ड मात्र नही है। यह है देवतात्मा।'
(२) 'अपने को निष्पीडित करके, ममता को उत्सर्ग करके एक व्यापक भारत के चक्र मे अपने को स्थापित करने का यत्न ही तो यज्ञ है और हिमालय साक्षात् यज्ञ-रूप है।'

१०. हिमालय की उन विशेषताओं पर एक लघु निबन्ध लिखिए जो आपको आकर्षित करती है।

११. इस पाठ की शैलीगत विशेषताएँ बताइए।

———

टिप्पणियाँ

भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है ?

मसल—कहावत। **कतवार**—कूड़ा। **ताजी**—अरबी घोड़ा। **मर्दुमशुमारी**—जन-गणना। **तिहवार**—त्योहार, पर्व। **फलानी**—फलाँ, अमुक, निर्दिष्ट व्यक्ति या वस्तु। **आयुष्य**—आयु। **गुलिस्ताँ**—उद्यान, वाटिका। **मतमतान्तर**—धार्मिक मतभेद। **लंकलाट**—एक महीन सूती कपड़ा (लाग क्लाथ का बिगडा हुआ रूप)। **अंगा**—अँगरखा, कुर्ता।

महाकवि माघ का प्रभात-वर्णन

सप्तर्षि—सात ऋषियों गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वशिष्ठ, कश्यप और अत्रि, के नाम पर सात तारो का मंडल। **अंशुमाली**—सूर्य। **अवतीर्ण**—उतरना। **तिमिर**—अन्धकार। **पराभव**—पराजित।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

आश्रम-चतुष्टय—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। **अन्यान्य कलाओं**—और-और कलाएँ जैसे चित्रकला, स्थापत्य कला, रजनकला आदि। **आदर्शात्मक-साम्य**—ऊँची समता, नमूने की बराबरी। **एकेश्वरवाद**—"ईश्वर एक है" इस सिद्धान्त को मानने वाला, दार्शनिक वाद। **ब्रह्मवाद**—ब्रह्म की ही सत्ता स्वीकार करने का सिद्धान्त अर्थात् यह मानना कि ब्रह्म के अतिरिक्त सभी कुछ मिथ्या है। **ऋचाओं**—ऋग्वेद के मन्त्रों। **परोक्ष**—अलौकिक या अप्रत्यक्ष (ससार की नही प्रत्युत अन्य लोक की)। **निसर्गसिद्ध**—प्रकृति से प्राप्त। **ऐहिक**—लौकिक, सासारिक। **संश्लिष्ट**—मिला-जुला। **भिजई**—भिगोई। **गुरुडम**—आचार्यत्व

(इसका प्रयोग अच्छे अर्थ मे नही होता) । **वसन्तश्री**—वसन्त की शोभा । **तत्सम्भव**—उससे उत्पन्न । **उद्वेग**—अभिव्यक्ति, जाग्रत करना । **पिंगल**—छन्द शास्त्र ।

आचरण की सभ्यता

ज्योतिष्मती—ज्योतिर्मयी, प्रकाशयुक्त । **निघण्टु**—वैदिक-शब्द-कोश । **मानसोत्पन्न**—मन से उत्पन्न । **क्लेशातुर**—दुःख से व्याकुल । **उन्मदिष्णा**—उन्माद युक्त, मतवाला । **अश्रुतपूर्व**—जो पहले न सुना गया हो । **केशवचन्द्र सेन**—(सन् १८३४-८४) ब्रह्म समाज के नेता । इन्होने राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद ब्रह्म समाज का प्रभाव बढ़ाने में विशेष कार्य किया था । **देवेन्द्र नाथ ठाकुर**—ब्रह्म समाज के नेता (केशवचन्द्र सेन के सहयोगी) । **अंजील**—ईसाइयो का धर्मग्रन्थ । **कारलायल**—अंग्रेजी का प्रसिद्ध लेखक (सन् १७९५–१८८१) अपने ऐतिहासिक निबन्धों के लिए प्रसिद्ध । **रामरोला**—व्यर्थ का शोरगुल । **रसूल**—ईश्वर का दूत । **औदार्य**—उदारता । **शनैः-शनैः**—क्रमशः, धीरे-धीरे । **महाप्रभु चैतन्य**—(सन् १४८६-१५३३) गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय या चैतन्य मत के प्रवर्त्तक । **संभूत**—उत्पन्न । **पदार्थ-विद्या**—पदार्थों का विवेचन करने वाली विद्या । **अन्तर्वर्तिनी**—भीतर स्थित । **रेडियम**—एक प्रकाशमय धातु । **शीराजी**—ईरान के प्रसिद्ध नगर शीराज का रहने वाला । **काफिर**—ईश्वर का अस्तित्व न मानने वाला, नास्तिक । **मोमिन**—ईमानदार मुसलमान । **त्रिपीठक**—बौद्धों के मूल ग्रन्थ जो विनय, सुत्त और आर्यधम्म तीन पिटको (भागो) में विभक्त है । **नेती**—हठयोग की एक क्रिया, इसमे पेट मे कपड़े की पतली पट्टी डालकर आँते साफ करते हैं ।

करुणा

सम्बन्ध-ज्ञान—कारण से कार्य के सम्बन्ध का ज्ञान । **कार्यकारण सम्बन्ध**—कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है । इसलिए दोनो में तात्त्विक सम्बन्ध है । **परिज्ञान**—पूर्णज्ञान । **सात्विकता**—साधु स्वभाव, शुद्ध प्रकृति । **निवृत्ति**—छुटकारा । **सम्भाव्य**—सभावित, कल्पित, भविष्य में घटित होने वाला ।

दुःशीलता—दुराचार, वुरा आचरण। **मनोवेग वर्जित**—मनोवेगों को दवाने वाला। **अन्तःकरण**—भीतरी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार। **प्रवर्त्तक**—लगाने वाला, प्रवृत्त करने वाला। **ज्ञानवादी**—ससार को ज्ञान दृष्टि से देखने वाला। **आलम्बन**—भाव का विषय, वह व्यक्ति या वस्तु जिसके प्रति भाव उत्पन्न होता है। **प्रभावोत्पादक**—मन को प्रभावित करने वाले। **परिमिति**—सीमा। **अनुपयुक्तता**—अनौचित्य। **तत्परता**—क्रियाशीलता। **अनुसारी परिणाम**—मनोवेग से उत्पन्न होने पर उसके अनुकूल आचरण करना। **प्रतिकार**—बदला, उचित क्षतिपूर्ति कराने वाला कार्य। **विश्वात्मा**—विश्वव्यापी, चेतन सत्ता।

शिक्षा का उद्देश्य

पुरुषार्थ—मनुष्य के जीवन का प्रधान उद्देश्य, वह वस्तु या प्रयोजन जिसकी प्राप्ति या सिद्धि के लिए मनुष्य को उद्योग करना चाहिए। पुरुपार्थ चार माने गये है —धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। **प्रतीयमान**—जिससे प्रतीति हो रही हो, जान पडता हुआ, जो व्यजना द्वारा प्रकट हो रहा हो। **वर्णाश्रम**—वर्ण और आश्रम। **मार्क्सवाद**—कार्ल मार्क्स के समाज-दर्शन पर आधारित समाज-सिद्धान्त। **संश्रय**—आधार, आश्रय। **अविद्यावशात**—अज्ञान के कारण। **आत्मसाक्षात्कार**—आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान। **दृश्यमान**—जो देखा जा रहा हो। **मुदिता**—हर्ष, आनन्द, चित्त की वह अवस्था जिसमे दूसरे का सुख देखकर सुख होता है। **परार्थ-साधन**—परोपकार। **निष्कामिता**—मन मे वासनाएँ या कामनाएँ न रहने की स्थिति। **लोक-संग्रह**—लोक कल्याण या जनता की सेवा। **समष्टि**—समग्रता, सपूर्णता। **विरत करना**—हटाना। **अनसूया**—दूसरे के गुणो मे दोप ढूँढने की वृत्ति का न होना या ईर्ष्या का अभाव। **स्वैरिणी**—स्वेच्छाचारिणी। **ऐहिक**—इस लोक से सम्वन्धित। **आमुष्मिक**—दूसरे लोक से सम्वन्ध रखने वाला। **युगपत्**—साथ-साथ। **अभिभूत**—वश मे किया हुआ, आक्रान्त। **आचारावलियाँ**—आचरण के प्रकार, व्यवहार की विधियाँ। **हमारे कर्त्तव्यों की डोर···पहुँचती है**—हमे अपने कर्त्तव्यो का निर्वाह अपने पूर्वजो से लेकर आने वाली पीढियो तक करना चाहिए अर्थात् पूर्वजो के गुणो को ग्रहण और आने वाली सन्तान के लिए कर्त्तव्यों की प्रेरणा देनी चाहिए।

आनन्द की खोज, पागल पथिक

कलपते हुए—विलाप करते हुए, अन्तर्वेदना को शब्दों में व्यक्त करते हुए। **आनन्द-कन्द-मूलक**—आनन्द के भाण्डार को देने वाली। **विश्ववल्लरी**—संसार-रूपी लता। **स्तब्ध**—गतिहीन। **ब्रह्माण्ड**—सम्पूर्ण विश्व। **अवाक्**—वाणीरहित, मूक, आश्चर्य से चुप। **विदीर्ण हृदय**—टूटा, शोकग्रस्त। **साख भर रहा है**—गवाही दे रहा है। **घटाकार**—घड़े के आकार का। **सखेद**—दुःख अथवा विवशता के साथ। **नव्यता**—नवीनता। **नितान्त**—सर्वथा, पूर्णतः। **राम-पोटरिया**—पोटली के लिए लेखक द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट शब्द अर्थात् पथिक का थोड़ा सा निजी सामान।

अथातो घुमक्कड़-जिज्ञासा

परिपाटी—पद्धति। **जिज्ञासा**—जानने की इच्छा। **छः दर्शन**—मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेपिक, साख्य और योग। **छः आस्तिक ऋषि**—छः दर्शनों के रचयिता ईश्वरवादी ऋषि—जैमिनि, वादरायण, गौतम, कणाद, कपिल और पतजलि। **शकों-हूणों**—भारतवर्ष के इतिहास में प्राचीनकालीन आक्रमणकर्त्ता। **समुन्दर के खारे पानी और हिन्दू धर्म में बैर**—समुद्र यात्रा को हिन्दू-धर्म के विरुद्ध मानना। **अन्योन्याश्रय**—एक दूसरे पर निर्भर। **नवीन संस्करण**—आधुनिक रूप। **दिवांध**—दिन में भी अन्धे। **निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः**—जो सत-रज-तम (तीनों गुणों) से रहित मार्ग पर विचरण करता है (योगी या घुमक्कड़) उसके लिए न कोई नियम होता है और न कोई रोक। **करतल भिक्षा तरुतल वास**—हाथ मे भिक्षा और वृक्ष के नीचे सोना। **दिग-अम्बर**—दिशाएँ (आकाश) ही जिसके वस्त्र हों, अर्थात् नग्न। **वैशालिक**—वैशाली का रहने वाला। **स्थावर**—स्थिर, न चलने वाला। **जंगम**—चलने-फिरने वाला। **मुक्त बुद्धि**—शास्त्रो से स्वतंत्र रहकर सोचने वाला।

गेहूँ बनाम गुलाब

शरीर की आवश्यकता—भूख, प्यास, कामुकता आदि। **मानसिक वृत्ति**—सुरक्षा, आदर्शवादिता, सौन्दर्यानुभूति, रसात्मकता आदि। **कोने में**

डालना—उपेक्षा करना। **तुरही**—फूँक कर बजाने का एक पतले मुँह का बाजा जो दूसरे सिरे की ओर बराबर चौड़ा होता जाता है। **उच्छ्वसित**—प्रफुल्ल, पूरा खिला हुआ। **समिधा**—लकड़ी। **चिर बुभुक्षा**—सदा रहने वाली भूख। **युटोपिया**—अप्राप्य विचार, आदर्श का सिद्धान्त जो पूर्णता का प्रतीक हो पर हो काल्पनिक। **हस्तामलकवत्**—हाथ पैर रखे आँवले की तरह, बिलकुल स्पष्ट। **ऊर्ध्वगामी करना**—ऊँचा उठाना, उच्चादर्शों की ओर मोड़ना। **रम्भा**—नल कुबेर की पत्नी जो इन्द्रलोक में अत्यन्त सुन्दरी मानी जाती है। **मेनका**—एक अप्सरा का नाम जिस पर विश्वामित्र मुग्ध हो गये थे, शकुन्तला की माता। **उर्वशी**—इन्द्रलोक की एक प्रसिद्ध अप्सरा जो पुरुरवा की पत्नी बनी। मित्र और वरुण भी उर्वशी पर मुग्ध हो गये थे। **स्खलित हो गयी**—भंग होकर नीचे गिर गयी। **"शौके दीदार है, तो नजर पदा कर"**—यदि दर्शन करने का शौक है तो अनुकूल दृष्टि उत्पन्न कीजिए।

राष्ट्र का स्वरूप

परिधि—सीमा। **वसुन्धरा**—वसुओं अर्थात् अमूल्य निधियो को धारण करने वाली, पृथ्वी। **अभ्युदय**—उन्नति। **अन्तराल**—बीच। **पुष्कल**—प्रचुर या अधिक। **समन्वय**—भेदों की एकता। **तादात्म्य**—एकत्व समर्पण। **विरहित**—विहीन। **अन्तर्निहित**—भीतर छिपा हुआ। **प्रतीक**—सकेत चिह्न। **नग**—रत्न। **निष्कारण धर्म**—ऐसा धर्म जिसमे स्वार्थ की भावना नही रहती। **संततवाही**—सदा प्रवाहित, स्थायी। **कबन्ध**—सिर रहित धड़।

भाग्य और पुरुषार्थ

सर्वान्तर्यामी—सब के भीतर की बात जानने वाले। **सार्वकालिक**—सभी समय विद्यमान रहने वाला। **संगति**—औचित्य, सार्थकता। **विदीर्ण**—छिन्न-भिन्न कर देना, भेद देना। **अहंता**—अपने होने का बोध, अस्तित्व की चेतना। **शून्यावस्था**—अपने होने के बोध के अभाव की अवस्था। **सप्रयास**—प्रयास सहित, प्रयत्नशील। **सहयुक्त**—एक साथ जुड़ा हुआ, संलग्न। **अकर्तृत्व**—अपने को कर्त्ता समझने के अहंकार का अभाव, कर्तृत्व का अभाव। **आत्मोत्सर्ग**—आत्म त्याग। **आत्म-विसर्जन**—अहंता का त्याग, अहकार की समाप्ति। **आकांक्षा**—इच्छा।

प्रशस्त—खुला और फैला हुआ। **अवज्ञा**—अवहेलना, उपेक्षा। **प्रमाद**—भूल, भ्रम। **अस्तित्व**—सृष्टि की पूर्णता, संसार की समग्रता। **त्रिकाल**—भूत, भविष्य और वर्तमान। **प्रणत**—विनयपूर्वक, विनीत। **परमार्थ**—उच्चतम उद्देश्य, स्वार्थ से ऊपर उठकर लोकहित का ध्यान रखना। **निवृत्ति**—अलग होना, त्यागना। **प्रवृत्ति**—विषय में लीन होना, इच्छापूर्ति के लिए आसक्त होकर कार्य मे लगना।

रावर्ट नर्सिंग होम में

परिचारक—रोग की अवस्था मे सेवा करने वाला (लेखक इन्दौर मे जिनका अतिथि था.वे महिला बीमार हो गयी थीं। अत. उनकी परिचर्या में वहाँ रुकना पड़ा।) **पैंतालिस वसन्त देखी**—आयु पैंतालिस वर्ष के लगभग थी। **अरुणोदय की रेखाओं से अनुरंजित**—लालिमा युक्त। **लंबा मुँह**—उदास चेहरा। **अधिनायक**—शासक। **चाँदनी चर्चित**—अत्यन्त गौर वर्ण। **बिना प्रसव किये माँ**—मदर की उपाधि धारण करने वाली प्रौढ नर्स। **योग-क्षेम**—यहाँ आशय है साधारण जीवन निर्वाह का वेतन। **दुहिता**—पुत्री। **नश्तर चुभाया**—मर्म को टटोला। **पूजा-गृहों**—ईसाइयो के धार्मिक स्थानो। **कामरूप**—आसाम का पुराना नाम। **कर्पूरिका**—कपूर जैसे गौर वर्ण वाली। **देवदासी**—मदिरों में रहकर देव पूजा के लिए जीवन समर्पित करने वाली तरुणियाँ। **भिक्षुणी और अर्जिका**—बौद्ध तथा जैन साध्वी।

प्रणाम

लक्ष्य पथ पर हृदय के विश्राम चिह्न—माथे की रेखाएँ ऐसी लगती थी जैसे कि हृदय की अनुभूतियाँ, विचार की मजिल तक पहुँचने के लिए मार्ग मे रुक गयी हों क्योंकि हृदय और बुद्धि अर्थात् मस्तक के सहयोग से ही विचारो का निर्माण होता है। **निमिष**—पलक का उठना-गिरना, क्षण। **उद्धत**—अशालीन। **उदासीन**—मौन, तटस्थ। **विछलना**—फिसलना। **गर्व के प्रमाणपत्र**—स्वाभिमान के सूचक। **अन्तर**—दूरी। **आर्द्रता**—कोमलता, स्नेह। **निस्तब्धता**—सन्नाटा, मौन (बातचीत और हँसी के बीच की चुप्पी)। **परिवेश**—परिस्थिति, वातावरण। **कवि-कथा की संकेत लिपि**—कवि की दिनचर्या का आभास। **मानवी रंग**—भावुकता, करुणा। **लौहनिर्मित भीम**—धृतराष्ट्र को अपने ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन

की मृत्यु का भय भीम से ही था। अत. वह उसे मार डालने या मरवाने का उपाय सोचता था। इसका पता पाण्डवो को लग चुका था। अत जब धृतराष्ट्र ने भीम से मिलने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने उसकी लौह की मूर्ति बनवा दी थी। (महाभारत)। **पार्थिव व्यक्तित्व**--प्रत्यक्ष शरीर। **हिरण्यगर्भा**--सोना उगलने वाली। **वायवी**—हवाई, शून्य। **स्थूल**--यथार्थ रूप। **संघर्षसृजन की शपथ बन जाता है**—उच्च कोटि का निर्माण या कला आदि को देखकर लोग ईर्ष्यावश उसे नष्ट करने पर उतारू हो जाते हैं। **अनन्त अवतार**--अनेक आकार। **संघात**—समूह, मिलीजुली रचना। **कर्मनिष्ठ बलिदानी साधक**---महात्मा गाँधी से आशय है। **स्वस्तिवाचन**—आशीर्वाद, शुभ कामना। **विशाल शिव और सुन्दर सृजन हो सकता है**--महान् को सब पूजते हैं पर दीन को महान् बना देने वाले और भी अधिक महान् होते हैं। **प्रखर-विद्युत**—प्रतिभा। **आस्था की सजलता**—मानव के प्रति प्रेम और करुणा। **बादल भरी बिजली**—करुणा और प्रतिभा। **धर्म की सीमा छू गई**—जब रवीन्द्र ने धर्म सम्बन्धी विचार प्रकट किये। **मानवता के वैतालिक**—मानवीय गुणों के गायक। **जन तो बहुत···नहीं मिला**—सभी मनुष्यों में कोई न कोई महानता होती है। **हीरा**—अर्थात् मानव या मानव-आत्मा। **जीवन-शिल्प की वर्णमाला**—उच्च आचरण या उच्च व्यक्तित्व का प्रारंभिक परिचय। **साधनों का हिमालय**—बहुत सी सुविधाएँ। **साधन शून्य रेगिस्तान**—सुविधाओं से बिल्कुल रहित होना। **हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान····कुछ कहना ही व्यर्थ है**—किसी व्यक्ति को सामने देखकर भी हम उतने ही तक अपने को सीमित नही रखते जो देख रहे हैं, बल्कि अनुमान और कल्पना के द्वारा उसके विषय मे अपने ज्ञान का और भी विस्तार करते हैं। इस प्रकार उस वस्तु के प्रति हम एक विशिष्ट अनुभूति और दृष्टिकोण बनाते हैं। फिर, यदि वह व्यक्ति सामने नही है, तब तो उसकी वस्तुओं आदि को देखकर हम और भी स्वतन्त्रतापूर्वक उसके सम्बन्ध मे अनुमान और कल्पना के द्वारा अपना अभिमत बनाते हैं। लेखिका ने कवीन्द्र की आलमारी और उसकी वस्तुओं को देखकर यहीं किया।

कुटज

अन्तर्निरुद्ध सत्ता—भीतर दबा हुआ जीवन (चट्टानो के बीच मे दबी हुई रेतीली जमीन) **रक्ताभ**—लाल। **द्वन्द्वातीत**—सुख दुख की भावना से मुक्त।

अतल गह्वर—गहरे गड्ढे। **भोग्य**—भोजन। **कचारा-निचोड़ा**—सारांश निकाला हुआ। **पद**—शब्द या नाम। **यथार्थ**—वस्तु या पदार्थ। **विरुद**—यश। **स्तवक**—गुच्छे। **चारुस्मित**—मधुर मुस्कान वाला। **आषाढ़स्य प्रथम दिवसे**—आषाढ़ के पहले दिन (दे० मेघदूत का पहला श्लोक)। **अनत्युच्च**—जो वहुत ऊँची न हो। **अपराजेय-जीवन-शक्ति**—प्रतिकूल परिस्थितियों में भी हार न मानकर जीवित रहना। **स्फीयमान**—बढती हुई। **दुरन्त**—असीम, अपार। **हाब्स और हैल्वेशियस**—पाश्चात्य देशों के समाज-शास्त्री। **जिजीविषा**—जीने की इच्छा। **द्रवित-द्राक्षा**—निचोड़ा हुआ अंगूर या किशमिश। **अकुतोभय वृत्ति**—किसी से भयभीत न होने का स्वभाव। **रूप मुख्य है या नाम**—वस्तु या व्यक्ति की पहिचान दो प्रकार से की जाती है—उसके रूप या आकृति द्वारा तथा उसके नाम के द्वारा। ये दो न हों तो व्यक्तियों और वस्तुओं को न तो अलग-अलग जाना जा सकता है और न ही उनसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

अवशेष

अकबराबाद—आगरा का एक पुराना नाम जो सम्राट अकवर के नाम से सम्वद्ध है। **स्मृतिलोक**—यादों की दुनिया, स्मृतियाँ। **चिरविरही प्रेमी**—सदा वियोगावस्था मे रहने वाला प्रेमी, शाहजहाँ का विशेपण। **मरीचिमाली**—सूर्य। **प्रतीची**—पश्चिम। **पादप पुंज**—वृक्षो का समूह। **रत्न खचित**—रत्नो से जड़े हुए। **दिन गिना करना**—समय विताना। **क़िले का वैराग्य**—आगरा के लाल किले का स्वामी व संरक्षक अकवर था। उसकी मृत्यु के बाद किला सुनसान व वीरान हो गया। लेखक ने किले की इस दशा को वैराग्य कहा है और आगे यह भी कहा है कि किले ने स्वत: सन्यास ले लिया है। **करुण-क्रंदन की प्रतिध्वनियाँ**—दया उत्पन्न करने वाली रोने के आवाज की गूँज। **बालुकामय शान्ति-जल-विहीन ऊसर**—जहाँगीरी महल में प्रेममय वातावरण था। अव उस प्रेमरूपी जल का अभाव हो गया है अत: लेखक ने उसकी उपमा ऐसी ऊसर भूमि से दी है जो बालू मे युक्त है किन्तु जिसमे शान्तिरूपी जल का अभाव है। **गाइड**—ऐतिहासिक स्थलो के विपय में शुल्क लेकर विवरण देने वाले राजनियुक्त पथ प्रदर्शक। **रक्तिम**—लाल। **तमसावृत**—अँधेरे से ढँका हुआ। **दीन-ए-इलाही**—सम्राट अकवर द्वारा प्रवर्तित एक धर्म जिसके सिद्धान्त सभी धर्मों के उपयोगी और समन्वयात्मक विचारों पर आधारित थे। यह धर्म लोकप्रिय नही हो सका और

बाद मे बिल्कुल समाप्त हो गया। **मिट्टी के दीपक रूपी हृदय में अगाध मानव स्नेह भरा है**—अकबर के हृदय की तुलना मिट्टी के दीपक से की गयी है। जिस प्रकार अकबर का हृदय अपार मानव प्रेम से भरा था उसी प्रकार सिकन्दरा मे अकबर की समाधि के ऊपर रखे दीपक मे अथाह तेल भरा हैं। स्नेह शब्द मे यहाँ श्लेप अलकार हैं।

सन्नाटा

आत्यन्तिक—अत्यन्त की पराकाष्ठा अर्थात् वहुत अधिक। **स्वहीनता**—स्वरहीनता, आवाज से रहित होना। **शब्द का ही एक गुण है**—आवाज के एक पक्ष को प्रकट करने वाला हैं, वह मौन का स्वर है। **निस्तब्धता की गति है**—सन्नाटे में ऐसा लगता है जैसे कि मौन बोल रहा हैं और खामोशी चल रही हैं। **स्वर के क्षेत्र····लक्ष्य होता है**—जिस प्रकार ध्वनि के क्षेत्र में (जो कानो का गुण हैं) हम ध्वनि-हीनता को सन्नाटा कहते हैं उसी प्रकार अन्य इन्द्रियो अर्थात् आँख, नाक, जीभ और त्वचा के क्षेत्र मे भी ऐसी नकारात्मक स्थितियाँ होती हैं। उदाहरण के लिए जिस के क्षेत्र में हम फीकेपन का अर्थ लेते हैं स्वाद-हीनता पर वास्तव में कोई वस्तु पूर्णत स्वादहीन नही होती। **उपकरण**—साधन। **ध्वन्यनुसारी**—ध्वनि के अनुकरण पर बनने वाले। **महाप्राण उच्चारण**—जिन व्यजन वर्णों के उच्चारण मे "ह्" की ध्वनि मिली रहती हैं। जैसे ख, घ, छ, झ इत्यादि। **विस्फोटित**—फूटकर या ओठ से निकल कर। **स्थिति वैचित्र्य**—स्थिति की पृथक्ता या विशेषता। **व्यक्ति वैचित्र्य**—व्यक्ति की विशेपता या पृथक्ता। **आकुल अनवरत रक्त प्रवाह की गूँज**—लेखक का विचार है कि सन्नाटे की साँय-साँय मनुष्य के अपने भीतर के निरन्तर प्रवाहित होने वाले रक्त की आवाज होती हैं। **व्युत्पत्ति**—शब्द के टुकडे करके अर्थ निकालना। **रूमानी**—कल्पना के रग में रगी हुई। **प्रतीक**—सकेत। **संवेदनाओं**—इन्द्रियो द्वारा प्राप्त अनुभूतियो। **आर्ष प्रयोग**—ऋषियों द्वारा किया गया प्रयोग। **भावन**—अनुभव। **द्रव**—तरल पदार्थ। **झाँय-झाँय**—तर्क-वितर्क, झगड़ा।

आलोचक की आस्था

प्रबुद्ध—जागरूक, सक्रिय। **ललित साहित्य**—आनन्दप्रद या रसात्मक

साहित्य, जिसमें लेखक की सृजन-प्रतिभा विशेष रूप से प्रकट होती है। **आत्माभिव्यक्ति**—लेखक की अनुभूतियाँ एव व्यक्तित्व का प्रकाशन। **परिणति**—परिणाम या फल। **अभिषेक**—सिंचन। **अभिन्न**—एकाकार, समान। **क्रोचे**—इटली का एक विद्वान् आलोचक, प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री। **मूर्त्तरूप**—शब्दो या चित्र मे प्रकट की गयी अनुभूति। **विदग्धों**—विद्वानो। **भोक्ता और कर्त्ता**—पाठक और कवि। **पुनःसृजन**—कल्पना शक्ति के द्वारा नवीन रूप मे प्रकट करना। **बलाबल**—अधिकता या न्यूनता। **पदार्थ**—वस्तु। **बिम्ब**—शब्द चित्र। **ऐन्द्रिय-मानसिक बिम्ब**—आँख, नाक आदि इन्द्रियों और मन के द्वारा अनुभव किये जाने वाले शब्दचित्र। **प्रज्ञात्मक**—बौद्धिक। **सर्जनात्मक संदर्शन**—रचनात्मक अनुभूति या कल्पना शक्ति। **तात्त्विक**—तत्त्वों या लक्षणो को सूचित करने वाला। **सात्त्विक**—वास्तविक, उत्तम, हितकारी। **आस्वाद**—साहित्यिक रचना को पढ़कर आनन्द प्राप्त करना। **आस्वाद्यत्व**—रसात्मकता। **आख्यान**—व्याख्या या विवेचन। **मूल्यांकन**—सामाजिक उपयोगिता। **नियमन**—नियत्रण या दिशा दिखलाना। **शक्ति की स्पृहा**—प्रभाव जमाने की इच्छा। **मताग्रह**—निजी सिद्धान्तो का अनुरोध। **विगलन**—गलना, समाप्त होना। **अभिधार्थ**—शब्दों का सीधा अर्थ। **प्रज्ञा**—बुद्धि। **संघात और प्रतिघात**—तर्क और गुण-दोष विवेचन। **मेधा की चट्टान**—प्रखर बुद्धि। **शाण रखना**—धार रखना, तीव्र बनाना। **स्थायी मूल्य**—व्यापक और चिरकाल तक रहने वाला महत्त्व। **लक्षित**—प्रकट। **स्पृहा**—आकांक्षा। **काम्य**—इच्छित, अभीष्ट।

भाषा और आधुनिकता

रमणीयता—सुन्दरता। **सामाजिक भाव-प्रकटीकरण**—सामाजिकता के भाव को प्रकट करना। **तकनीकी शब्दावली आयोग**—यह नई दिल्ली मे है। भारत सरकार ने शिक्षा मत्रालय के अन्तर्गत सन् १६५० में इसकी स्थापना की थी। **प्राण तत्त्व**—आत्मा। **दुरूहता**—अस्पष्टता। **उद्दिष्ट**—उद्देश्य रखने वाली। **संश्लिष्टताओं**—सूक्ष्म विशेषताओं। **परिहार**—निराकरण, निवारण। **स्वतःसिद्ध**—अपने आप प्रकट होने वाली। **निःसृत**—निकालना, उत्पन्न होना। **ऐच्छिक**—स्वावलम्बी, स्वयं स्थापित की गयी, आत्म-निर्भर।

निन्दा रस

साइक्लोन—चक्रवात, तेज और धूलभरी चक्कर काटती हुई आँधी।

धृतराष्ट्र की जकड़—जन्मांध धृतराष्ट्र की भुजाओ मे बडी शक्ति थी। महाभारत युद्ध के अन्त मे दुर्योधन को भीम ने मार डाला। पुत्र की मृत्यु से धृतराष्ट्र के मन मे भीम से बदला लेने की इच्छा जागी और प्रकट रूप मे भीम को गले लगाने की बात कही। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के मन्तव्य को ताड गये और उन्होने भीम के लोहे के पुतले को आगे करके कहा कि भीम खडे है। धृतराष्ट्र ने आलिगन मे पुतले को इतने जोर से दबाया कि लोहे का पुतला चूर-चूर हो गया। **नागफनी**—कँटीला पौधा, एक विशेष प्रकार का कैक्टस। **धराशायी करना**—पराजित करना, जमीन पर लिटाना। **केटलाग**—सूची। **आँगन कुटी छवाय**—यहाँ पर निन्दको के सम्बन्ध में कबीर के निम्नलिखित दोहे की ओर सकेत है :—

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय॥

मिशनरी—लगन, तत्परता एव 'कार्य के लिए कार्य' की भावना की ओर सकेत। ईसाई पादरियो की सस्था मे इसी भावना से काम होता है और इस सस्था को 'मिशनरी' कहते हैं। **ट्रेड यूनियन**—श्रमिकों का सगठन जो उनके हितो की रक्षा के लिए सघर्ष करता है। **बहुजन हिताय**—अधिकाधिक व्यक्तियो की भलाई के लिए।

आखिरी चट्टान

समाधि—योग का आठवाँ अग, वह दशा जिसमे योगी सारे द्वद्वो से ऊपर उठकर आत्मलीन हो जाता है। **विवेकानन्द**—(सन् १८६३-१९०२) रामकृष्ण परमहस के शिष्य। प्रकाड विद्वान् और कुशल वक्ता। आपने अमेरिका मे आयोजित विश्वधर्मसभा में अपने वक्तव्य से श्रोताओ को मुग्ध कर लिया था। **मोक्ष**—मुक्ति, जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा। **सैण्डहिल**—बालू का ऊँचा टीला। **कैनवस**—खुला चित्रपट। **शृंखला**—कडी, सिलसिला। **लावा**—ज्वालामुखी पर्वत से निकलने वाला द्रव पदार्थ। **बैंजनी**—हलके नीले रगवाला। **कन्याकुमारी**—दक्षिण भारत की स्थल सीमा बनाने वाला अतरीप, दुर्गा का एक नाम।

हिमालय

एकनिष्ठ—एक के ही ऊपर निष्ठा रखने वाला। **शुचिता**—पवित्रता, निर्मलता। **मुक्तहस्त**—जिसका हाथ खुला हो, दानी, उदार। **उद्भूत**—प्रकट

हुआ, उत्पन्न। आप्यायित—तृप्त। गैरिक—गेरू। रागों—रंगों। उच्छल—उछलने वाला। ऋजु दृष्टि—सरल या कुटिलतारहित दृष्टि। जगद्धात्री—जगत् की रक्षा करने वाली। गजाजिन—गज की खाल। भक्तिविगलित—भक्ति से प्रवाहित।